विधाता का विधान

हमारे आगामी प्रकाशन

उपन्यास

उठते क़दम	श्रीराम शर्मा 'राम'	५)
राजकलश	अमरबहादुरसिंह 'अमरेश'	५)

कहानियाँ

सिंदबाद	ज़हूरबख़्श	२॥)
खाँडे की धार	सुधीन्द्र वर्मा	३)

विविध

मुर्ग़ीपालन	मनोहरलाल वर्मा	२॥)
गेहूँ की खेती	वी० एम्० लिगास	१॥)
हम अछूत नहीं, निर्बल नहीं	लक्ष्मीनारायण टंडन	१॥)

भारतीय लोक-कथा-माला

दशकुमार-चरित	रामेश्वरप्रसाद मेहरोत्रा	२)
बैताल-कथाएँ	,,	२)
कथा-सरित्सागर	,,	२)
विक्रम-कथाएँ	,,	२)
हीर और राँझा	ज़हूरबख़्श	२)

विधाता का विधान

[कहानी-संग्रह]

लेखक
प्रतापनारायण श्रीवास्तव

प्राप्ति-स्थान
गंगा पुस्तकमाला कार्यालय
लखनऊ

पहली बार : १९५९

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

4783

मुद्रक
गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

आदरणीया भाभी
श्रीमती तारा अग्रवाल एम्० एल्० सी०
को
सादर समर्पित

परिचय

कथा-साहित्य में कहानी का एक विशेष महत्त्व है। मानव-समाज की नाना विधि समस्याओं पर कांता सम्मत विचार करने का यह आधुनिक उपाय है। आजकल के संघर्षमय जीवन में जब समय का एक प्रकार से अभाव रहता है और मानसिक शांति के अवसर भी विरले और अल्पस्थायी होते हैं, तो बड़े-बड़े उपन्यासों की अपेक्षा इन लघु कथाओं की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। इसलिये इस दिशा में किए गए प्रत्येक सुंदर सोद्देश्य प्रयास का स्वागत ही होना चाहिए। 'विधाता का विधान' का भी हम हृदय से स्वागत करते हैं।

श्रीप्रतापनारायण श्रीवास्तव की अपनी एक विशेषता है, जो उनकी सब कृतियों में सूत्र-रूप से विद्यमान है। वह "कला कला के लिये" के एकांत उपासक नहीं हैं। कला यदि जीवन के निखार के लिये काम में न आवे, यदि वह मानव-समाज का कल्याण न कर सके, यदि वह दिनोदिन घटित होनेवाली जीवन की समस्याओं के समाधान का संकेत न कर सके, पाठक के हृदय में सद्भावनाओं का उद्रेक न कर सके, संक्षेप में यदि वह हमारी सच्ची मार्ग-दर्शक न बन सके, तो श्रीवास्तवजी उस कला को उपास्य नहीं मानते। कला हो, मगर वह कल्याणकारिणी हो। ऐसी ही कला के वह उपासक हैं। अकल्याणकर कला उन्हें असह्य है।

साथ ही वह कला-विहीन रूखे-सूखे उपदेश पर भी विश्वास नहीं करते। उनका ध्येय है—सत्य, शिव और सुंदर। अपनी कृतियों में

वह इन तीनो गुणों में से किसी एक को भी छोड़ना नहीं चाहते। उनकी दृष्टि में इन तीनो में से किसी भी गुण से रहित कृति अधूरी है, अपर्याप्त है, लुंज है। उनका आदर्श ऐसा नहीं है, जो सरलता-पूर्वक अनुकरण किया जा सके। वह तो उन्हीं-जैसी साधना करने-वाले लेखक के लिये साध्य है।

'विधाता का विधान' इन सब गुणों से मंडित उनकी कहानियों का संग्रह है। रोचकता, कौतूहल, रसानंद, शिक्षा, भाषा-सौष्ठव, प्रतिपादन-पटुता, सबका सामंजस्य इन कहानियों में मिलेगा। मेरा विश्वास है, विद्वन्-मंडली में, उनकी अन्यान्य कृतियों की भाँति ही, इस कहानी-संग्रह का भी हार्दिक स्वागत होगा।

—विष्णुदत्त शुक्ल

कथा-क्रम

		पृष्ठ
१.	विधाता का विधान	१
२.	सती के शब्द	२७
३.	न-मालूम क्यों ?	५६
४.	सुहागरात	६७
५.	इस्तीफ़ा	७५
६.	खेल	९५
७.	अद्भुत मिलन	१०८
८.	परिचय	१२४
९.	एक घूँट जल	१४१
१०.	यह क्या ?	१५८

विधाता का विधान

(१)

ओंकार का मन काँप रहा था। वह चिंताओं का भार लेकर जहाज़ की सीढ़ियों पर चढ़ रहे थे। 'डायमंड क्वीन' अपने चलने की तैयारी कर रहा था। उन्मुक्त वायु के झोंके उसके उन्नत ललाट को चूमकर बिदा दे रहे थे। ओंकार के हृदय में एक हूक उठी, जो मनुष्य के हृदय में उस वक़्त उठती है, जब जन्मभूमि के अंचल की छाया छोड़कर वह परदेश का सहारा लेता है। पिता की संपत्ति ईश्वर का मनोरम आशीर्वाद है, और उसका न होना भयंकर कोप। ओंकार इस आशीर्वाद से परिपूर्ण थे। पिता से ओंकार को २० लाख की चल-संपत्ति मिली थी, और अचल संपत्ति में कई गाँव और शहर में मकान। सरस्वती के प्रसाद से भी वह भरपूर थे। प्रयाग-विश्वविद्यालय से सम्मानित होकर पेरिस में डॉक्टर की उपाधि लेने जा रहे थे। उत्साह अपने भरे यौवन में मस्त था, लेकिन ओंकार का हृदय फिर भी चिंतित था।

विवाह-प्रणय-प्रेम—यह हिंदू-जीवन है। ओंकार की विधवा माता ने अपने को 'माता के अंतिम गौरव' के सुख से वंचित नहीं रक्खा। जब ओंकार बी० ए० में ही थे, उनकी माता ने एक सोने की पुतली, जो रूप और गंभीर प्रेम की सुनहली ज़ंजीर लिए थी, लाकर उनके उत्तरीय से बाँध दी। वेग से भागते हुए जहाज़ में लंगर पड़ गया। उनकी गति मंद होकर क्षण-भर के लिये रुक गई, और वह आश्चर्य से उस रूप-रेखा को देखने लगे। यौवन

की पहली उमंग अपनी निधि पाकर उसमें लीन हो गई। माता को आश्वासन मिला। वह अपनी दुवा की सफलता पर स्वयं आत्मतुष्टि की हँसी से खिल पड़ीं। वात्सल्य की धारा दो बराबर हिस्सों में बँट गई। ईश्वर का एक साधारण कृत्य और मनुष्य के लिये एक रहस्यमयी प्रहेलिका।

किंतु पत्नी उमा सुंदरी ने अपना कर्तव्य समझा, और पति को, अपने पढ़ने के बहाने से, कर्तव्य का मार्ग दिखलाया। विष्णुशर्मा ने कहानी बनाकर नीति-शास्त्र राजकुमारों को कंठस्थ कराया था, और उमासुंदरी स्वयं एक पाठ होकर ओंकार को पढ़ाने लगी। ओंकार और उमासुंदरी नियमित रूप से पढ़ने लगे। किंतु पढ़ते-पढ़ते दोनो न-जाने कब एक दूसरे को देखने लगते और सहसा काँप-कर फिर हँसकर अपने पाठ में मन लगाते। परंतु यह तपस्या का बगुला-प्रयत्न क्षण-भर में नष्ट हो जाता, और दोनो पुस्तकें छोड़ देते। ओंकार उसके निकट, अति निकट, बैठ जाते, और उमासुंदरी हँसती हुई माला होकर उनके उर पर झूल जाती। प्रणय हँसकर अपनी आँखें बंद कर लेता। ओंकार को वही मीठी याद इस समय भी चिंतित कर रही थी।

यह था, परंतु सरस्वती ने अपने वर पुत्र को त्याग नहीं दिया। उनकी विधवा माता की तरह वह इस प्रणय-लीला को देखकर मन-ही-मन संतुष्ट होकर चिर-सुखी होने का आशीर्वाद दे रही थीं। ओंकार को फिर भी गौरव मिला, और प्रयाग-युनिवर्सिटी में 'रेकार्ड बीट' किया। विश्वविद्यालय ने फ्रांस जाकर डॉक्ट्रेट लेने का, छात्रवृत्ति देकर, अनुरोध किया। एक भारतवासी को फ्रेंच-साहित्य का इतना उत्कृष्ट ज्ञान हो, एक चकित कर देनेवाली बात थी, और वह एक देशीय-विद्यालय के फ्रेंच-भाषा के सबसे श्रेष्ठ भारतीय विद्वान् थे।

उमासुंदरी पति के गौरव से खिल पड़ी। उसने भी मैट्रिक परीक्षा, द्वितीय श्रेणी में, पास की। वह कितना उनके जीवन में गौरवमय था। मा, विधवा मा, के लिये तो एक आह! निष्ठुर विधाता के विधान से दिवंगत स्वामी की स्मृति में रुलानेवाला दिन था। वह कह उठीं—उनके स्वर में फ़रियाद थी—"आह! अगर तुम भी होते, तो·······?" यह विधवा होने की भयंकर पीड़ा थी, किंतु उस पीड़ा में जलन नहीं थी, गुदगुदी थी, कंपन था, और था रोमांचित करनेवाला मीठापन। मुख कमल कुम्हलाया हुआ था।

उस दिन की भी सुखप्रद छाया इस समय ओंकार के नेत्रों के सामने, चलित चित्रों की भाँति, अपना खेल दिखा रही थी। एक हलका-सा धक्का लगा, और विचारावलि टूट गई। जिस तरह शीशे की तश्तरी झनझनाकर टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाती है, उसी तरह उनकी भी विचारावलि बिखर गई। उनके मुँह से सदा का अभ्यस्त शब्द निकल गया—"Excuse me." दूसरे ही क्षण, वीणा-विनिंदित स्वर में, कोमल कंठ से कहा—"I am sorry."

ओंकार ने सिर घुमाकर देखा, प्रातःकाल की कुमुदिनी उषाकाल में मधुर हँसी हँस रही थी, जिसके अधर उदित सूर्य की लाल मयूखों से अतिरंजित होकर एक लुभावना रूप बिखेर रहे थे। ओंकार ने विस्मित होकर देखा—फ्रे-फ्राक पहने, खेलती हुई एक फ्रेंच-सुंदरी खड़ी थी। वह मुड़कर एक बंकिम कटाक्ष करके जाने ही वाली थी। आँखें चार हुईं, ओंकार काँप उठे, यौवना हँस पड़ी। वह मुड़कर सीढ़ियों पर चढ़ने लगे, और वह नीचे उतरने लगी। एक क्षण-भर का दृश्य था, किंतु एक भेद के संसार का सूत्र-पात था।

ओंकार अपने कैबिन में चले गए। फ़र्स्ट क्लास कैबिन एक

विशेष स्थान पर था। उन्होंने ज्यों ही अपना कैबिन खोलकर बिजली का स्विच दबाया, उनकी दृष्टि एक तार पर पड़ी, और उसमें नत्थी दस्तख़त करने की स्लिप और पेंसिल। तार उन्हीं के नाम का था। उन्होंने स्लिप पर दस्तख़त करके तार खोलकर पढ़ा—"ठहरिए, अम्मा ने हमारे प्रवास में गंगाजल व्यवहार करना स्वीकार कर लिया है, इसलिये हम सब इंतज़ाम करके आ रहे हैं। हम बुधवार को बंबई पहुँचेंगे।—उमासुंदरी"

भाग्य मुस्किराने लगा। उन्होंने दूसरे ही क्षण जहाज़ के दफ़्तर में जाकर अपना पैसेज कैंसिल करने और वायु-वेग से अपना सामान उतरवाने का आदेश दिया। आह! कैसी विश्रांति थी, और कैसा आनंद!

जब विलायत जाने का प्रश्न उठा, तो उमासुंदरी ने कहा—"जाओ, तुम अवश्य जाओ, मैं तुम्हारे उन्नति के मार्ग में कंटक नहीं होऊँगी। तुम्हारे गौरव में मेरा गौरव है।" लेकिन विधवा मा ने विनय और वात्सल्य से ओत-प्रोत करुण स्वर में कहा—"नहीं।"

पति-पत्नी तो जाने के लिये उत्सुक थे, किंतु उनकी माता मानदा-देवी एक हिंदू-घर की तपस्या-मूर्ति विधवा थीं, भारतीय प्राचीन संस्कारों की जीवित मूर्ति थीं, जिसमें विषय, अनुराग, शृंगार, आभरण एक जीवन के लिये कठोर व्रत की विशुद्ध अग्नि में जल-कर राख हो गए थे। सफ़ेद मलमल की सारी किसी रंग के नाम से परिचित नहीं थी। विदेश में, म्लेच्छों के मध्य में, वह क्या हिंदू-धर्म जीवित रख सकेंगी। उन्होंने अपनी सम्मति नहीं दी। अकेले ओंकार का जाना निश्चित रहा, क्योंकि उमासुंदरी को उनकी मा छोड़ना नहीं चाहती थी, यद्यपि कौशल्या ने छोड़ दिया था। कौशल्या के प्रेम में विचार था, और मानदा के प्रेम में माता का

स्वार्थ और अंधापन, जो केवल ओंकार के प्रकाश से प्रज्वलित था।
ओंकार चिंताओं का बखेड़ा लेकर चल दिए।

कौशल्या राजरानी थीं, उस समय सधवा थीं, रामचंद्र के साथ वन नहीं जा सकीं, परंतु मानदा ने वह भी क्षुद्र बंधन तोड़ दिया, और अंत में अपनी आँखों का प्रकाश छिप जाने पर घोर अंधकार देख उमासुंदरी के प्रस्ताव पर अपना आख़िरी फ़ैसला दे दिया कि मैं गंगाजल का प्रबंध हो जाने पर पेरिस में रह सकूँगी। टॉमस कुक ऐंड कंपनी से प्रत्येक डाक से गंगाजल भेजने का प्रबंध अति सहज में हो गया। धन का सदुपयोग था—ख़र्च था, किंतु कितना लाभ था। आत्मतुष्टि का सफल प्रयत्न था।

ओंकार अपनी धुन में मस्त वेग से उतर रहे थे। सीढ़ी के अंतिम डंडे पर वह फिर उसी सुंदरी से टकरा गए। अदृष्ट मुस्किरा पड़ा। दोनो फिर चकित होकर एक दूसरे को देखने लगे। पहले तो जाता हुआ मिलन था, और इस बार आता हुआ।

सुंदरी ने मुस्किराते हुए कहा—"क्या कारण है, हम लोग टकराते बहुत हैं।" फिर उनका असबाब कुलियों के सिर पर देखकर कहा—"क्या आप जा रहे हैं?" यह तो परिचित-जैसा प्रश्न था। क्षणिक मुठभेड़ में ही क्या परिचय हो गया। ओंकार ने प्रहृष्ट कंठ से उत्तर दिया—"हाँ, मैं दूसरी 'बोट' से आऊँगा। मेरी माता भी आ रही हैं, उनके लिये ठहरना पड़ेगा।" उत्तर भी सहज परिचित कंठ से मिला। यौवना ने फिर पूछा—"आप कहाँ जा रहे थे?"

ओंकार ने उत्तर दिया—"फ़्रांस। पेरिस में मेरे गुरुदेव हैं, उनके पास अध्ययन करने जा रहा हूँ। उनका नाम है मोशिए लुई रोसाँ।"

युवती ने अस्फुट स्वर से कहा—"जो लूव्रे के पास रूडी-रैंपिल में, नं० A 57 में, रहते हैं।"

ओंकार ने विस्फारित नेत्रों से कहा—"हाँ श्रीमती, वही। आप कैसे जानती हैं?"

युवती ने उनकी ओर क्षण-भर देखा, और फिर सिर झुकाकर कहा—"वह मेरी मा के भाई हैं। मैं यहाँ भारत में अपने ममेरे भाई के पास मिलने आई थी, जो इलाहाबाद-युनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर हैं।"

ओंकार ने कहा—"आश्चर्य है, आप इतनी घनिष्ठ निकलीं! विधि की लीला। मैं उन्हें भली भाँति जानता हूँ, वह मुझे पढ़ा चुके हैं, और उनके विशेष निमंत्रण पर मैं पेरिस जा रहा हूँ।"

युवती ने भोलेपन से कहा—"तब तो आपसे मिलने का अक्सर अवसर मिलेगा, क्योंकि मैं भी इसी साल परीक्षा दूँगी। मेरे मामा भी मुझे विशेष रूप से चाहते हैं।"

यह कहकर युवती ने अपने नाम का कार्ड अपने झूलते हुए बैग से निकालकर दिया। ओंकार ने भी अपना कार्ड दिया। दोनो ने एक दूसरे को धन्यवाद दिया।

इसी समय जहाज़ चलने की सूचना देने लगा। दोनो ने एक दूसरे को देखा, और कुली ने अपने क्षणिक मालिक ओंकार की ओर देखा। ओंकार ने पढ़ा, कार्ड पर लिखा था—'जूली मैडिलीन'।

जूली ने मुस्किराते हुए अपना कोमल हाथ आगे बढ़ा दिया। ओंकार ने झिझकते हुए हाथ मिलाकर कहा—"मुझे कितना हर्ष हुआ, मैं कह नहीं सकता।"

जूली ने उत्तर दिया—"अब पेरिस में मामा के घर साक्षात् होगा।" ओंकार ने वचन देते हुए कहा—"हाँ, अवश्य।"

जहाज़ का दूसरा संकेत पहले से भी तीव्र ध्वनि से आकाश को कंपित करने लगा। जूली क्षिप्र पदों से सीढ़ियों पर चढ़ने लगी,

और ओंकार डाक के बाहर निकलने को अग्रसर हुए। विधि का विधान एक नया जाल गूँथने लगा।

(२)

मालाबार हिल्स पर समुद्रतरंग नाम का एक बँगला बिलकुल हिंद-महासागर पर झाँक रहा है। प्रभात की किरणें जब नील वक्ष को ज्वलित सुनहला परिधान पहनाकर समुद्रतरंग को आलोकित करती हैं, उस समय ऐसा मालूम होता है, मानो राज्याभिषेक के लिये कोई राजमाता अपने युवक पुत्र को मांगलिक पीत परिधान से आभूषित कर राजतिलक के पहले, स्वयं अपने वात्सल्य के कुंकुम से, उसके उन्नत, प्रशस्त, गौर ललाट पर टीका कर रही हो। समुद्रतरंग में ओंकार के एक मित्र रहते थे। वह पारसी सज्जन थे, और बंबई के लक्षाधीश सोहराबजी के पुत्र थे तथा ओंकार के सहपाठी।

दूसरे दिन प्रातःकाल ओंकार उठकर समुद्र का गंभीर गर्जन सुनने के लिये चले गए। अनंत जल-राशि थी। उत्तुंग लहरें जोश में उठतीं, परंतु थककर, असफल होकर गिर पड़तीं, उसी तरह, जैसे कोई प्रणयी अपने प्रिय को अपने से दूर जानकर बेसुधी की हालत में उधर अग्रसर तो हो जाता है, परंतु वायु के थपेड़े उसकी बेहोशी दूर कर देते हैं, और वह जगकर गिर जाता है। ओंकार कुछ सोचने लगे।

ओंकार ध्यान-मग्न थे। रुस्तमजी ने ओंकार के समीप आकर कहा—"तुमने अभी तक चाय नहीं पी?"

ओंकार ने चौंककर कहा—"नहीं, मैं चाय नहीं पीता।"

रुस्तमजी ने कहा—"अच्छा, गरम दूध और टोस्ट। यह बुरा नहीं है।"

ओंकार ने उत्तर दिया—"लेकिन मैं अभी कुछ नहीं पीना

चाहता। अच्छा, यह तो बतलाओ, यहाँ क्या कोई दूसरी कोठी बिकाऊ है ?"

रुस्तमजी ने हँसते हुए कहा—"क्या यहाँ रहने का इरादा है ?"

ओंकार ने उत्तर दिया—"हाँ, जीवन के कुछ दिन यहाँ व्यतीत करना चाहता हूँ। भगवान् और प्रकृति से साक्षात् करने के लिये संसार के पूजा-गृहों में सबसे सुंदर मंदिर यह है।"

रुस्तमजी ने प्रेम से ओंकार की पीठ पर हाथ मारकर कहा—"ओह! तुम तो मुझे आश्चर्य में डाल रहे हो, तुम्हारे दिमाग़ में पूजा की तरफ़ यह रुझान कैसे पैदा हुई ?"

ओंकार ने गंभीर होकर कहा—"मैं तो आस्तिक सदा से रहा हूँ।"

रुस्तमजी ने कुछ झेंपे हुए स्वर में कहा—"यह मैं नहीं कहता, मैं सिर्फ़ यह कहता हूँ कि तुममें यह वैराग्य क्यों, जब कि तुम पेरिस जा रहे हो।"

ओंकार ने हँसते हुए कहा—"यह ठीक है, लेकिन यह भी तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मेरा रक्षक मेरे साथ है।"

दोनो हँस पड़े। उनकी हँसी सुदूर समुद्र के नील वक्ष में प्रति-ध्वनित होकर समा गई।

ओंकार को वहाँ तीन दिन तक ठहरना पड़ा। इसी दरम्यान वह उस जगह से इतने परिचित हो गए कि उन्हें यह प्रस्ताव सबसे पहले उमासुंदरी के सामने रखना पड़ा, जब बुधवार को दोपहर के वक़्त वह अपनी सास और घर के कामदार के साथ बंबई पहुँच गई। उनकी माता मानदादेवी और उमासुंदरी ने सहर्ष अपनी सम्मति दे दी।

ओंकार ने उसी दिन शाम को हँसते हुए कहा—"किंतु अम्मा, तुम्हें गंगा का नित्य दर्शन नहीं होगा।"

मानदा ने उत्तर दिया—"मैं प्रयाग बाबा को छोड़कर कहीं नहीं रह सकती। क्यों ? मैं न भी रहूँगी, तो क्या, तुम और बहू तो रहोगे।"

उमासुंदरी ने घूँघट खींचते हुए कहा—"मैं यहाँ रहूँगी, तो रोज़ तुम्हारी चरण-सेवा कौन करेगा, और चूँकि मैं उस गौरव और सुख को छोड़ नहीं सकती, इसलिये मैं भी यहाँ न रहूँगी।"

ओंकार ने हँसकर कहा—"अब ठीक है। मैं ही केवल यहाँ योग-साधन कर तपस्या करूँगा।"

माता, बहू और पुत्र, तीनो हँस पड़े। उस हँसी में हृदय का कितना हल्कापन था। बंबई में तीन-चार दिन बीतते देर नहीं लगती। बात करते-करते निकल गए। ओंकार ने अपनी माता को सब नगर दिखलाया। वह देख तो रही थीं, लेकिन उन वस्तुओं में उन्हें आकर्षित करने की शक्ति नहीं थी।

शुक्रवार की संध्या को सिनेमा जाने का प्रोग्राम था। उमासुंदरी ने कपड़े पहनकर अपनी सास के पास आकर कहा—"अम्मा, क्या चलने का इरादा नहीं है।"

मानदादेवी ने अपनी माला बंद करते हुए कहा—"तुम दोनो जाकर देख आओ, अब इस बूढ़े शरीर को दुख मत दो।"

उमासुंदरी ने हँसकर कहा—"अच्छा, लौटकर मैं आज दो घंटे तक तुम्हारा शरीर दाब दूँगी, और अगर कहोगी, तो रात-भर तुम्हारा सिर और तलवे सहलाऊँगी।"

मानदादेवी ने उठते हुए कहा—"तुम लोगों से कब पिंड छूटने को है; चलो, अगर कहीं लल्लन आ गया, तो फिर मुश्किल हो जायगा।"

ओंकार को उनकी मा लल्लन ही कहती थीं।

इसी समय ओंकार ने आकर कहा—"अम्मा, जल्दी चलो, देर

हो रही है। खेल शुरू हो गया, तो मज़ा मिट्टी हो जायगा।"

मानदादेवी ने अपनी चादर ओढ़ते हुए कहा—"चलो।"

दूसरे दिन सबेरे दस बजे, 'ट्रैफलगर' जहाज़ से, ओंकार अपनी माता और स्त्री के साथ नेपिल्स के लिये रवाना हो गए। नेपिल्स से रेल द्वारा पेरिस पहुँचने का कार्य-क्रम निश्चित हुआ।

मोशिए लुई रोमाँ को पहले से ही सूचना दे दी गई थी। उन्होंने शहर के बाहर एक पूरा मकान किराए पर ले रक्खा था।

संसार का वैचित्र्य देखते हुए तीनो यथासमय नेपिल्स पहुँच गए। रास्ते में पहले सबको कुछ कष्ट हुआ, 'सी-सिकनेस' ने सबको परेशान किया, परंतु कोई घबराया नहीं। मानदादेवी की दशा ठीक वैसी थी, जैसी दो शराबियों के बीच एक न पीनेवाली की होती है। लेकिन फिर भी साहस से अपने को धैर्य बँधातीं। और, रात्रि के समय उमासुंदरी की उत्साह-भरी सेवा उनके हृदय से इस विचार को दूर कर देती कि "मैं क्यों आई।"

और, ओंकार का हृदय, जो पहले चिंता से ओत-प्रोत था, भार-हीन होकर अपने जीवन के नए विधान बाँध रहा था।

(३)

नारी-सुलभ लज्जा उमासुंदरी का मधुर गुण था, किंतु पेरिस की रंगभूमि में, अनिंद्य सुंदरी-मंडल में, उसकी अवहेलना देखकर, वह स्वयं लज्जित होकर कौतूहलमय नेत्रों से उनकी ओर निहारने लगी। कितना स्वतंत्र जीवन है। जहाँ स्त्रियाँ तितलियों की तरह अपने रूप का पराग बिखेरती फिरती हैं, और मतवाले भ्रमर उनकी केशर के मधु-पान में विभोर हैं। अप्सरा-मंडल का इतना खुला नृत्य पृथ्वी के किसी खंड में मिलेगा या नहीं, यह कहना कठिन है। साहित्य और कला जहाँ गौरीशंकर की चोटी पर पहुँच गए हैं, जिनकी

विकसित अरुण मयूखें समग्र संसार को चकित कर रही हैं। यथार्थवादी कला का सर्वोत्कृष्ट दिग्दर्शन पेरिस-जैसे नगर में ही मिलता है।

उमासुंदरी उस साज-सामान को देखकर विस्मित, चकित और मुग्ध हो गई। जैसे कोई पंडित, पुरानी लकीर का फ़क़ीर, किसी मदोन्मत्त समाज में जाकर किं कर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है, ठीक उसी तरह उमासुंदरी थी। यौवन की लालसा जाग उठी। पुरानेपन में एक नशे का सुरूर चढ़ने लगा। ओंकार ने उस परिवर्तन को निरख लिया। वह उसे उत्साह देने लगे। विकास आरंभ हो गया। यहाँ तक कि एक दिन अनायास दोनो जाकर एक कपड़े की दूकान से अपने-अपने लिये एक नवीन, आप-टु-डेट सूट ले आए। श्रीगणेश हँसने लगे।

एक दिन उमासुंदरी अपने कमरे में, शृंगारदान के सामने, बैठी सिर गुँथा रही थी, और मैडम अगैथा उसकी अलकावलि एक नवीन प्रकार से सजा रही थी। ओंकार ने मिस जूली के साथ प्रवेश किया। उमासुंदरी चौंककर उठ खड़ी हुई, और ओंकार को देखकर साड़ी सिर पर ओढ़ ली।

ओंकार ने जूली की ओर संकेत करके कहा—"यह हमारे प्रोफ़ेसर डॉक्टर लुई रोमाँ की भानजी हैं, और नाम है मिस जूली मैडिलीन।" फिर उमासुंदरी की ओर संकेत करके कहा—"यह मेरी पत्नी।"

दोनो ने हाथ मिलाया। जूली उमासुंदरी की बग़ल में खड़ी होकर बातें करने लगी।

उस दिन से घनिष्ठता बढ़ती गई। क़रीब-क़रीब रोज़ ही जूली उस परिवार में आने लगी, और उनमें सौहार्द अधिकाधिक गंभीर होता गया। वह ऐसा सूत्र उमासुंदरी के हाथ में आ गया, जिससे

उसकी सुकुमार प्रवृत्तियाँ क्रमशः विकसित होने लगीं। पश्चिमीय विचारों का रंग चढ़ने लगा। उसका नारीत्व अपना स्वतंत्र रूप लखकर उसी ओर बढ़ने लगा। किंतु एक बड़ा भारी 'किंतु' उसके प्रत्येक क़दम पर आ जाता था। ग़ुलामी की ज़ंजीर, जो जन्म से पहन रक्खी थी, यद्यपि टूट गई थी, परंतु हाथ-पैर अब भी उसके बंधन से बँधे-से मालूम होते थे, और उनमें अब भी बोझापन प्रतीत होता था।

उमासुंदरी अपनी धुन में इतनी व्यस्त थी कि उसे मानदादेवी के साथ उठने-बैठने का बहुत कम समय मिलता था। स्वतंत्र वायु-मंडल का आकर्षण इतना वेगमय था, जिससे उसकी प्राचीन कार्य-प्रणाली में बहुत फेरफार हो गया था। और, उसकी विधवा सास, पुत्र और वधू का एकांत परिणय—नव-जीवन का उत्साहमय विकास—मुग्ध नेत्रों से देख रही थी। उन्हें उसी में सुख और हर्ष था। यद्यपि वह फ़्रेंच-भाषा या अँगरेज़ी-भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण उनके समारोह में भाग नहीं ले सकती थीं, और न लेना ही चाहती थीं, फिर भी उत्साहित करने में कोई उपाय उठा न रखती थीं। मानदादेवी उमासुंदरी की अपने प्रति अवहेलना निरख रही थी, परंतु उससे उन्हें कष्ट न होता था, ईर्ष्या न होती थी।

संध्या की श्यामल छाया धीरे-धीरे संसार को आवृत कर रही थी। जूली और उमासुंदरी ने दौड़कर कमरे में प्रवेश किया। और उमासुंदरी तो तुरंत ही अपनी सास के शरीर से, भोली-भाली बालिका की भाँति, लिपट गई।

मानदादेवी ने अपनी माला समेटते हुए कहा—"क्या है पगली?"

उमासुंदरी ने उनके शरीर से और लिपटते हुए कहा—"यों मैं न कहूँगी, वचन दो कि मेरी बात मानोगी, तो कहूँ।"

मानदादेवी ने ऊपरी रोष से कहा—"तूने यहाँ आकर मुझे तंग करना बहुत सीख लिया है। माला फेरती हूँ, तो माला भी फेरने नहीं देती। विलायती कपड़े पहने छू लिया, अब सरदी में स्नान करना पड़ेगा। फिर पूछती हूँ कि कहो, तो कुछ बोलती नहीं।"

उमासुंदरी ने हँसते हुए कहा—"नंगे पैर तो हूँ। कपड़े ऊनी हैं; हाँ, विलायती फ़ैशन में ज़रूर सिले हुए हैं। फ़ैशन में क्या छूत लगती है। तुम्हारे पुत्र साहब तो यहाँ क्या और इलाहाबाद में क्या, सदैव विलायती फ़ैशन के कपड़े पहनते हैं; उनके छूने से छूत नहीं लगती, और मेरे छूने से छूत लग गई। मैं दूसरी की कोख से पैदा हुई, तो यह भेदभाव!"

कहते-कहते उमासुंदरी ने मानदादेवी को छोड़ दिया। मानदा-देवी ने हँसकर उसे अपने हृदय से लगाते हुए कहा—"अरे पगली, तू तो लल्लन से भी ज़्यादा प्यारी है। अच्छा बोल, क्या कहती है। मैं तेरा सब कहना मानूँगी। बोल मेरी लाड़ली, बोल।" उमासुंदरी ने मान-पूर्ण स्वर में कहा—"मेरा कहना क्यों मानोगी; हाँ, अभी वह आकर कहते कि अम्मा, फ़लाँ जगह चलना है, तो झटपट तैयार हो जातीं, लेकिन मैं चाहे नाक रगड़ते-रगड़ते मर जाऊँ, तो भी........।"

मानदादेवी ने बीच में टोककर कहा—"ख़बरदार, जो संध्या समय यह बुरा शब्द निकाला; तू और लल्लन जब तक गंगा में जल-धार बहे, अचल सुख भोगो, और मैं तुम्हारी सारी आपदाएँ लेकर मर जाऊँ, तो अच्छा है।"

उमासुंदरी ने अपनी सास को कर-आबद्ध कर कहा—"और तुम संध्या समय ऐसी बात क्यों कहती हो। जानती हो, तुम्हारे जाने के पहले मैं.......।"

मानदादेवी ने उमासुंदरी के मुँह पर हाथ रख दिया। जूली

खड़ी-खड़ी, चकित होकर, यह अर्थ-शून्य दृश्य देख रही थी। वह बेचारी सास-बहू का अभिनय देख रही थी। उनकी बातें उसे समझ में न आती थीं। इसी समय ओंकार ने कमरे के अंदर आकर कहा—"अम्मा, अभी तक तुम तैयार नहीं हुईं।"

उमासुंदरी का बंधन ढीला पड़ गया, और वह एक ओर जूली के पास खड़ी हो गई। जूली प्रश्न-सूचक दृष्टि से उमासुंदरी की ओर देखने लगी।

मानदादेवी ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से ओंकार की ओर देखते हुए कहा—"कहाँ जाना है लल्लन ?"

उमासुंदरी ने हास्यमयी दृष्टि से अपनी सास की ओर देखा। ओंकार ने पहले उमासुंदरी की ओर देखा, और फिर अपनी मा की ओर देखते हुए कहा—"क्या अभी तक तुमसे कहा नहीं ?"

मानदादेवी ने हँसते हुए कहा—"कहने का मौक़ा ही कहाँ आया। अभी तक तो हम सास-बहू झगड़ रही थीं।"

ओंकार ने हँसते हुए कहा—"तुम चलने को तैयार न होती होगी, इसीलिये झगड़ा होता होगा। यह तो ठीक है। तुम मेरे मान की कब्र हो ! तुम भी उसी से ठीक रहती हो, जो तुम्हें नाकों चने चबवाए रहे।"

उमासुंदरी, ओंकार और मानदादेवी, तीनो हँस पड़े। हास्य की तरंगें वायु-मंडल में एक हलकंप पैदा कर ईर्ष्या से तीनो की ओर देखती हुई विलीन हो गईं।

ओंकार ने आगे बढ़कर कहा—"आज चलो, तुम्हें जूली के घर घुमा लावें। जूली की मा से तुम्हारा परिचय करा दें। वह भी तुम्हारी तरह भगवद्भजन में लीन रहती हैं। दोनो का परिचय करा देने से तुम दोनो की ख़ूब बनेगी। तुम्हें यह सुनकर आश्चर्य होगा कि जूली की मा को थोड़ा-थोड़ा हिंदी का ज्ञान है। एकाध शब्द वह

कह लेती हैं, और बहुत कुछ समझ लेती हैं। जब मैंने उनसे यह पूछा कि आपको हिंदी का ज्ञान कैसे हुआ, तो उन्होंने हँसकर जवाब दिया कि यह मेरे जीवन का अपना भेद है।"

मानदादेवी को कहीं आना-जाना ज़्यादा अच्छा न लगता था। वह एकांत में ही अपने पुत्र और वधू के साथ सुखी थीं। उन्होंने ओंकार के प्रस्ताव पर कोई उत्साह प्रकट नहीं किया।

उमासुंदरी धीरे से अपनी सास के पास जाकर बोली—"कहो, अब तो माला फेरने की देरी न होगी? बेटा, कहता है, भला बेटे की बात कैसे टालोगी?"

ओंकार ने पूछा—"क्या बात है अम्मा?"

मानदादेवी ने खिन्न स्वर में कहा—"है क्या, तुम दोनो की बदमाशी है। एक साधक बनता है, तो एक सिद्ध। दो घड़ी बैठकर राम-राम न करने दोगे।"

उमासुंदरी ने उसी तरह धीमे स्वर में कहा—"अब चलने का मन हो गया।"

मानदादेवी ने सप्रेम कहा—"नहीं, मैं न जाऊँगी। तुम दोनो हो आओ।"

ओंकार ने मा के पास आकर कहा—"हाँ, कैसे न चलोगी, देखूँ। जानती हो, हम तीन हैं। ओवर-कोट ले तो आना, मैं ज़बरदस्ती पहना देता हूँ। चलना पड़ेगा। हज़ारों रुपए ख़र्च करके पेरिस आईं, और यहाँ घूमें-फिरेंगी नहीं। ग़ुलामी का गीत बैठे-बैठे गाएँगी।"

उमासुंदरी बात-की-बात में अपने पहनने का नया ओवर-कोट ले आई, और ओंकार ज़बरदस्ती पहनाने लगे। मानदादेवी आपत्ति करने लगीं। उन्होंने कहा—"अरे, तुम लोग न मानोगे। मैं चलती हूँ, लेकिन यह एक गधे का बोझ मेरे ऊपर न लादो। मैं शाल

ओढ़कर चलूँगी। मैं अपनी पुरानी चाल नहीं छोड़ती, और न मुझे अच्छा ही लगता है।"

ओंकार ने बहुत अनुनय-विनय की, सरदी का भय दिखलाया, लेकिन मानदादेवी किसी तरह राज़ी न हुईं। उन्होंने शुद्ध भारतीय वेष में जाना स्वीकार किया। केवल ओंकार के बहुत अनुरोध से उन्होंने जूते पहने।

उस दिन शाम को जब पेरिस विद्युत्-लैंपों से रत्न-जटित परिधान पहन रहा था, उमासुंदरी, मानदादेवी, जूली और ओंकार अपनी मोटर में बैठकर 'रू-दी-नात्रेदाम' की ओर चल दिए। उमासुंदरी का मन उत्साह से बाँसों उछल रहा था, और मानदादेवी एक विचित्र भावावेश में चुप बैठी थीं। विधाता का विधान तीनो को खींचकर किसी अनिश्चित लक्ष्य की ओर सवेग ले जा रहा था।

(४)

रू-दी-नात्रेदाम पर एक विशाल अट्टालिका है, जो बहुत प्राचीन काल से फ़्रांस के राज्यपरिवार के वंशजों के अधीन है। फ़्रांस की राज्य-क्रांति होने के बाद अट्टालिका नैपोलियन के अधिकार में आ गई थी, और इसका स्वामी काउंट लोवन अपनी सारी जायदाद छोड़कर इँगलैंड की शरण में चला गया। काउंट लोवन की जायदाद के साथ यह मकान भी ज़ब्त होकर नैपोलियन के अधिकार में चला गया। काउंट लोवन ने इँगलैंड में ही अपना विवाह किया, और वहाँ के नागरिक हो गए। सन् १८१५ में नैपोलियन को क़ैद कर सेंट हेलना भेज दिया गया। उसके बाद राजसत्तात्मक और फिर प्रजातंत्र शासन स्थापित हुआ। काउंट लोवन सन् १८४० में स्थायी रूप से अपनी जन्मभूमि में आकर बस गए। इस समय यद्यपि वह बूढ़े हो गए थे, परंतु उनकी एकांत कामना यही थी कि उनका शव पेरिस में, उनके पितृ-पुरुषों के समीप ही,

दफ़नाया जाय। उन्होंने अनवरत परिश्रम से अपने पुश्तैनी घर का उद्धार तो कर लिया, लेकिन ज़मींदारी किसी तरह भी वापस नहीं मिली। वह दैव के विधान से राष्ट्रीय संपत्ति हो गई।

जिस समय काउंट लोवन अपनी मातृभूमि को लौटे, उनके दो पुत्र और एक कन्या थी। एक पुत्र तो घर आकर ही काल-कवलित हो गया, लेकिन एक पुत्र और कन्या को अपना उत्तराधिकारी छोड़कर मरे थे। कन्या का विवाह हो गया, और वह अपने पति के साथ रूस चली गई। पुत्र ने अपना विवाह किया, और उसके भी संतान हुई, परंतु जीवित एक भी न रहीं। अंत में, सन् १८९५ में, जो बालक (लुई लोवन) उत्पन्न हुआ, वह जीवित रहा। वह अपने माता-पिता का लाड़ला पुत्र था। एक दिन भयंकर प्लेग के प्रकोप से लुई लोवन के माता-पिता एक साथ ही काल-कवलित हो गए।

भगवान् की प्रेरणा से लुई लोवन का भरण-पोषण लुई रोमाँ, ओंकार के शिक्षक के पिता, के सिर पड़ा, क्योंकि उनका और लोवन-परिवार का बहुत घनिष्ठ संबंध था। यह घनिष्ठता उस दिन और बढ़ गई, जिस दिन लुई रोमाँ की सहोदरा मेरी मैडिलीन का पाणि-ग्रहण लुई लोवन से हो गया। मेरी मैडिलीन एक शिक्षित और अनिंद्य सुंदरी स्त्री थी। भावुक होने के साथ-साथ वह प्रेम और पवित्रता की जीवित मूर्ति थी, किंतु सौभाग्यवती रहने का विधान विधि ने नहीं रचा था। विवाह के दूसरे ही महीने में, सन् १९२० की पहली फ़रवरी को, इन्फ़्लूएंज़ा से लुई लोवन एक ही रात में काल-कवलित हो गया! दूसरी फ़रवरी को सूर्य की सुनहली किरणों ने मेरी मैडिलीन को विधवा-वेष में देखा। इसी मेरी मैडिलीन की कन्या का नाम जूली था।

मेरी मैडिलीन इस समय प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त होकर भगवद्भजन

में लीन थी, और अपनी पुत्री के साथ अपने पति के पैत्रिक घर में रू-दी-नात्रे दाम में रहती थी। लुई रोमाँ अपनी भाषा के प्रकांड पंडित थे, और उनकी ख्याति दूर-दूर देशों में थी। वह इलाहाबाद-विश्व-विद्यालय के विशेष निमंत्रण मिलने पर, सन् १९२२ में, वहाँ के फ्रेंच-भाषा के प्रोफ़ेसर होकर चले गए थे। वह अपने परिवार-सहित गए थे, और सन् १९२२ से सन् १९३४ तक भारत में ही रहे। इन बारह वर्षों में वह एक बार भी अपनी जन्मभूमि नहीं आए। सन् १९२३ में उन्हें पत्र द्वारा पता चला कि उनकी बहन ने एक धनी भारतीय से विवाह कर लिया है, और उससे उनके एक बालिका पैदा हुई है। वह बालिका यही जूली थी। लुई रोमाँ ने उत्तर में हर्ष प्रकट किया था, और भारतीयों की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। परंतु विधि का विधान सदैव से एक अभेद्य रहस्य रहा है। अचानक एक दिन उन्होंने सुना कि उनकी सहोदरा का वह भारतीय पति समुद्र में डूब जाने से मृत्यु को प्राप्त हो गया है, जब 'कोरोना'-नामक जहाज़ तूफ़ान में पड़कर, एक चट्टान से टकरा-कर चकनाचूर हो गया था। लुई रोमाँ ने निराशा-पूर्ण दृष्टि से आकाश की ओर देखा, और समवेदना का एक मार्मिक पत्र लिख-कर मेरी मैडिलीन को धैर्य बँधाया। उन्होंने उसे भारत में आने को आमंत्रित किया, किंतु मेरी मैडिलीन ने अपनी सम्मति नहीं दी। वह अपने मृत पति की यादगार लेकर ही व्यस्त रही।

लुई रोमाँ के मन में यह विचार कई बार आया कि मेरी मैडि-लीन के भारतीय पति का पता वग़ैरह पूछकर यहाँ उनके परि-वार से मिलें, लेकिन उन्हें इतना साहस कभी नहीं हुआ। वह अपनी बहन के भावुक स्वभाव से भली भाँति परिचित थे। उसके बारे में कोई प्रश्न उसे दुखी करने के अतिरिक्त कुछ नहीं था। वह उस इच्छा को कभी प्रकट न कर पाए। अंत में, जून सन् १९३४

में, वह प्रयाग-विश्वविद्यालय से सदा के लिये बिदा होकर अपने देश चले गए। परंतु अपने बड़े लड़के को, जो उसी विश्वविद्यालय में इकॉनॉमिक्स (अर्थशास्त्र) का प्रोफ़ेसर हो गया था, भारत में ही छोड़ गए।

ओंकार लुई रोमाँ के प्रिय छात्रों में से थे। ओंकार को फ़्रेंच-भाषा से प्रेम था। उसकी प्रतिभा लुई रोमाँ-जैसे प्रकांड पंडित को गुरु पाकर देदीप्यमान हो उठी। लुई रोमाँ भी उसे अपने पुत्र की भाँति प्यार करते थे। कई कारण-वश लुई रोमाँ सन् १९३४ के बाद भारत में नहीं ठहर सके, और अपने प्रिय छात्र ओंकार को एम्० ए० की उपाधि से भूषित नहीं देख सके। जिस वर्ष वह गए, उस वर्ष ओंकार ने एम्० ए० प्रीवियस पास किया था। चलते-चलते लुई रोमाँ ने ओंकार से कहा था—"मेरे पुत्र, तुम कभी धैर्य न छोड़ना। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम निकट भविष्य में मेरा नाम संसार में प्रख्यात करोगे, और मुझे तुम्हारा गुरु कह-लाने का गौरव प्राप्त होगा। तुम डॉक्ट्रेट के लिये पेरिस आना। मैं चलकर अभी से तुम्हारे लिये प्रबंध करता हूँ। वह मेरे लिये बड़े गौरव का दिन होगा, जब तुम पेरिस को अपनी प्रतिभा से चकित करोगे। और, मुझे दृढ़ विश्वास है कि वह दिन दूर नहीं है।"

कहते-कहते मोशिए लुई रोमाँ की आँखों में झलझलाहट हो आई थी। वह क्षण-भर तक ओंकार का हाथ पकड़े रहे। ओंकार ने उन्हें प्रणाम किया, और कलकत्ता-बांबे-मेल मंद गति से चलने लगा। दोनो के नेत्र सजल थे।

और, हुआ अंत में वही, जो प्रोफ़ेसर लुई रोमाँ ने भविष्यवाणी की थी। ओंकार सम्मान-पूर्वक एम्० ए० पास हुए, और युनि-वर्सिटी ने उन्हें स्कॉलरशिप भी दिया। ओंकार ने वह सुसमाचार मोशिए लुई रोमाँ को लिखा। उत्तर में केवल एक आनंदमय निमं-

त्रण था। ओंकार ने अपनी माता के लाख आपत्ति करने पर भी जाना ही निश्चित किया। अंत में उनकी विधवा माता मानदादेवी और पत्नी उमासुंदरी भी उनके साथ विदेश जाने के लिये तैयार हो गई थीं।

(५)

मैडम मेरी मैडिलीन ने आगे बढ़कर अपने अतिथियों का स्वागत किया। ओंकार ने अपनी माता का परिचय कराया, और फिर उमासुंदरी का। इस समय मानदादेवी की विचित्र हालत थी। जिस प्रकार मदारी कठपुतलियों को नचाता है, उसी तरह ओंकार अपनी मा को नचा रहे थे। और, जैसे कठपुतलियों में अपनी निज की चलन-शक्ति नहीं होती, वैसे ही मानदादेवी में भी नहीं थी। वह मख़मली सोफ़ा पर एक ओर बैठ गई।

मेरी मैडिलीन को यह प्रथम अवसर किसी भारतीय रमणी से साक्षात् करने का प्राप्त हुआ था। वह नहीं जानती थी कि किस प्रकार उनका आदर-सत्कार प्राप्त करे। ओंकार से तो कई मर्तबे मिल चुकी थी, और जूली व उमासुंदरी में कुछ विशेष अंतर नहीं था। यदि कोई कठिनता थी, तो वह मानदादेवी के साथ थी। दोनो बैठकर थोड़ी देर तक एक दूसरे का मुँह देखती रहीं।

अंत में मेरी मैडिलीन ने ओंकार से कहा—"आप मेहरबानी करके अपनी मा को समझा दें कि वह इस घर को अपना ही घर समझें, किसी प्रकार की असुविधा अनुभव न करें। ओंकार ने सहज भाव से कहा—"आप घबराएँ नहीं, मेरी मा को कोई असुविधा नहीं है।" इसी समय जूली और उमासुंदरी दौड़ती हुई कमरे में आईं। उनके हाथ में एक फ़ोटो था। उमासुंदरी ने आकर वह चित्र मानदादेवी को दिखाकर कहा—"अम्मा, देखो, क्या यह अपने बाबूजी की तसवीर नहीं है? है तो बिलकुल वैसी ही, जैसी तुम्हारे

कमरे में, प्रयाग में, लगी हुई है। अंतर केवल इतना है कि उसमें पायजामा और शेरवानी है, और इसमें कोट और पैंट। यह तसवीर यहाँ कहाँ से आई। जूली कहती है, यह मेरे पिता की तसवीर है।"

मानदादेवी और ओंकार ने एक साथ देखा। मानदादेवी चौंक पड़ीं, ओंकार भी चकित हो गए। वास्तव में यह चित्र तो उनके मृत पिता और मानदादेवी के पति (राजेश्वरप्रसाद) का ही था। मानदादेवी उमासुंदरी की ओर देखने लगीं, और ओंकार अपनी माता की ओर। यह कैसा रहस्य! उनके पिता का यह चित्र कहाँ से आया। उनके पिता तो आज से दस-ग्यारह वर्ष पहले समुद्र-यात्रा में डूबकर देवलोक प्राप्त हो गए थे।

मानदादेवी के सामने अतीत का वह दृश्य फिर गया, जब आज से १३-१४ साल पहले उनके पति, ओंकार के पिता, विश्व-भ्रमण को निकले थे, और फिर घर वापस नहीं आए। उनके मरने का ही समाचार आया। मानदादेवी ने वह हृदय-विदारक समाचार वज्र-हृदय होकर सुना, लेकिन उन्होंने ओंकार को देखकर सब्र किया। वह चतुर और कार्यशीला रमणी थीं। ज़मींदारी और जायदाद के इंतज़ाम में दक्ष थीं। उन्होंने जायदाद सँभाल ली, और ओंकार को शिक्षित करना आरंभ किया। उस समय ओंकार नितांत बालक थे, उनकी जीवन-प्रगति में कुछ विशेष अंतर नहीं पड़ा।

मानदादेवी ने अपना सिर उठाकर ओंकार से कहा—"लल्लन, यह तुम्हारे पिता का ही फ़ोटो है। मैं नहीं समझती, यहाँ कैसे आया। जूली इसे अपने पिता का फ़ोटो कहती है। पूछो, कोई भ्रम तो नहीं है।"

ओंकार ने मेरी मैडिलीन की ओर देखा—उसके मुख पर एक म्लान छाया छाई हुई थी। ओंकार ने उससे पूछा—"मैडम, क्या आप कृपा करके बतलावेंगी कि यह फ़ोटो किसका है?"

मेरी मैडिलीन के पहले ही जूली बोल उठी—"यह मेरे पिता का है।" फिर थोड़ी देर बाद कहा—"क्या आपको नहीं मालूम कि मेरे पिता भारतीय थे। यह बात तो मामा ने आपसे कही है।"

ओंकार ने जवाब दिया—"हाँ, यह तो मुझे मालूम है, लेकिन मैं पूछता हूँ कि कहीं आप भूल तो नहीं करतीं।"

जूली ने मृदु मुस्कान-सहित कहा—"नहीं, भूल नहीं करती। कोई अपने पिता के पहचानने में भूल करता है! मेरा विश्वास न मानो, तो मा से पूछ लो। उन्होंने ही मुझे बतलाया है कि यह तुम्हारे पिता का फ़ोटो है। यह फ़ोटो सदैव मेरी मा के सोनेवाले कमरे में रहता है। आज मैं उमा को दिखाते-दिखाते वहाँ ले गई, और यह चित्र भी दिखाया। वह इसे देखकर आप लोगों को दिखाने के लिये ले आई।"

ओंकार ने फिर मेरी मैडिलीन की ओर देखा, और पूछा—"मैडम, क्या जूली सत्य कहती है?"

मैडम मेरी मैडिलीन ने धीमे स्वर में कहा—"हाँ, यह सत्य है। यह मेरे दूसरे पति का फ़ोटो है।"

मानदा ने विह्वल कंठ से ओंकार से पूछा—"क्या कहती हैं?"

ओंकार ने उत्तर दिया—"कहती हैं, मेरे दूसरे पति का फ़ोटो है। इनका पहला पति तो वह व्यक्ति था, जिसका यह मकान है। उसकी मृत्यु विवाह के एक ही महीना बाद हो गई थी, और बाद में इस व्यक्ति से विवाह किया, जिसका यह फ़ोटो है। अम्मा, क्या तुम्हें इसका कुछ रहस्य मालूम है?"

मानदादेवी ने एक निःश्वास के साथ कहा—"मुझे कुछ ज्ञात नहीं। यह तो मैं तुम्हें बतला चुकी हूँ कि तुम्हारे पिता विश्व-भ्रमण को निकले थे। तीन वर्ष तक तो उनके पत्र आते रहे, और फिर सरकार की ओर से उनके स्वर्गवास का दुःखद समाचार मिला।

मुंशी रामप्रसाद, मुख़्तारआम ने भी बंबई जाकर इसका पता लगाया, तो वह निष्ठुर समाचार सत्य निकला। आज से १२ साल पहले वह जहाज़ समुद्र में टकरा गया था, जिससे वह देश लौट रहे थे। वह तीन वर्ष तक कहाँ रहे, और क्या करते रहे, यह मुझे नहीं मालूम। यह हो सकता है कि उन्होंने प्रवास में इनसे विवाह कर लिया हो और जूली उन्हीं की संतान हो। यह समाचार उन्होंने पत्र में मुझे नहीं लिखा। हाँ, इतना अवश्य हुआ था कि उनके पत्र बहुत दिनों में आया करते थे, और मुझे ठीक याद है कि एक साल तक तो उन्होंने एक तरह से पत्र लिखना ही बंद कर दिया था। जब मैंने उन्हें बहुत कड़ी चिट्ठी लिखी थी, तब वह नियमित रूप से पत्र लिखा करते थे। हाँ, एक बात और याद आई। इन तीन वर्षों में उन्होंने दस लाख से ऊपर रुपया बैंक से ले लिया था। उसका रहस्य आज प्रकट होने जा रहा है।"

इसी समय जूली, जो न-मालूम कब कमरे के बाहर चली गई थी, वापस आई। उसके हाथ में दो लिफ़ाफ़े थे, जिनमें पुराने पत्र रक्खे हुए थे। वे पत्र उसने ओंकार को देते हुए कहा—"ये मेरे पिता के पत्र हैं, जो भारत से उनके पास आया करते थे।"

ओंकार के पहले ही मानदादेवी ने उन्हें जूली के हाथ से छीन लिया। उन्हें खोलकर देखा। वास्तव में ये उनके ही लिखे पत्र थे। मानदादेवी विस्फारित नेत्रों से उनकी ओर देखने लगीं।

अतीत का दृश्य उनके नेत्रों के सामने घूमने लगा। मृत पति की स्मृति जागकर उनका उपहास और वृश्चिक-दंशन से उसकी आहत आत्मा को अधिकाधिक संतप्त करने लगी। उन्हें पति के विश्वास-घात की साक्षी उनके लिखे हुए पत्र दे रहे थे। वह विश्व-भ्रमण नहीं कर रहे थे, बल्कि एक विदेशिनी के प्रणय-जाल में बद्ध होकर अपनी निधि पानी की तरह लुटा रहे थे। उन्होंने आहत दृष्टि से

मेरी मैडिलीन की ओर देखा। वह दूसरी शोक की प्रतिमा थी। उसके देवी-जैसे भोले मुख को देखकर उनका एकांत विषएण भाव किंचित् कम हो गया। उनकी सहज कोमलता जाग्रत् हो गई। वास्तव में इस रमणी का क्या अपराध था। वह तो ठीक उसी के समान थी। उनका उन्नत मन अधिक उन्नत हो गया।

उन्होंने ओंकार से अश्रु-पूर्ण नेत्रों से कहा—"लल्लन, यह तुम्हारी विमाता हैं, इन्हें प्रणाम करो। इन पत्रों के देखने से अब कोई शक नहीं रह गया। तुम्हारे पिता ने विदेश में आकर इस रमणी से विवाह किया है, और जूली तुम्हारी सौतेली बहन है।"

मेरी मैडिलीन सब कुछ समझ रही थी। उसने ओंकार से कहा—"हाँ, मेरा भी यह अनुमान सत्य हुआ कि तुम मेरे पति के पुत्र हो। तुम्हारा सादृश्य तुम्हारे पिता से इतना अधिक है कि मैंने जब पहले-पहल तुम्हें अपने भाई लुई रोमाँ के घर में देखा था, तो प्रथम साक्षात् में मुझे यही मालूम हुआ कि जूली के पिता हैं। क्या तुम्हें याद नहीं कि तुम्हें देखकर मैं थोड़ी देर के लिये अचेत-सी हो गई थी, और मेरे भाई ने तुमसे कहा था कि 'इन्हें दूसरे पति के मरने के बाद 'हिस्टीरिया' की बीमारी हो गई है।' वह हिस्टीरिया का दौरा नहीं था, तुम्हारा जूली के पिता के समान अद्भुत सादृश्य ही इसका कारण था। फिर मैंने घर आकर तुम्हारा मिलान इस फ़ोटो से किया, सत्य ही अद्भुत समानता थी। मैं उसी दिन से एक विचित्र प्रकार की कल्पना करने लगी; और इसीलिये जूली को तुम्हारे घर भेजने लगी। और, आज उसी सत्य का निरूपण करने के लिये आपको सपरिवार निमंत्रित किया। दैव के विधान से मेरी वह कल्पना सत्य में परिणत हुई। मैं जिस बात की कामना अहर्निश करती रहती थी, वह भगवान् ने पूर्ण की। परंतु यह न जानती थी कि इतनी जल्दी और इस प्रकार मेरी

इच्छा भगवान् पूर्ण करेंगे। जब मैंने पत्रों में 'कोरोना' जहाज़ के डूबने का दुःखद हाल पढ़ा, और मृत यात्रियों की सूची में तुम्हारे पिता का नाम देखा, तभी से मेरे मन में यह इच्छा जाग्रत है कि चलकर इनके भारतीय परिवार में रहूँ। किंतु तुम्हारे पिता ने कभी अपना पूरा पता ज़ाहिर नहीं किया, और न मैंने कभी पूछा ही। मैं तो उनके प्रेम में इतनी मदांध हो गई थी कि मुझे कभी अवसर ही नहीं मिला कि मैं इस संबंध में कोई बात करूँ। मेरा उन पर अगाध विश्वास था, और अनंत प्रेम। मैं उन्हें जाने नहीं देती थी, लेकिन उन्होंने मुझे यह वचन दिया था कि मैं देश जाकर परिवार के सब लोगों को ले आऊँ। उनका यह कथन असंगत प्रतीत नहीं हुआ, और जब मैंने उनके साथ चलने को कहा, तो उन्होंने जवाब दिया कि मेरे चलने से उन पर सामाजिक आपत्ति आ सकती है। परंतु उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया था कि तीन महीने के अंदर-अंदर सब लोगों को लेकर यहाँ लौट आवेंगे। हाँ, यह कहना तो मैं भूल ही गई कि विवाह होने के पहले मैंने हिंदू-धर्म की दीक्षा ले ली थी, और इसीलिये हम दोनो लंदन गए थे, और एक हिंदू-समाज में जाकर मैंने धर्म-परिवर्तन किया था। मेरा और उनका प्रेम कैसे हुआ, यह एक विचित्र घटना है। मॉमेल से पेरिस आ रही थी, उसी रेल के डिब्बे में वह भी थे। अचानक रेल किसी गाड़ी से टकरा गई। उस समय उन्होंने अपनी जान पर खेलकर मेरी रक्षा की थी। बस, तभी से हमारा परिचय अधिकाधिक गंभीर होता गया, और अंत में हम लोग उसे स्थायी करने के लिये विवाह-बंधन में बँध गए। हमारे विवाहित जीवन के एक वर्ष बाद जूली पैदा हुई। जूली का नाम ज्योत्स्ना है, किंतु अब यह इसी नाम से प्रख्यात है। जिस समय वह हम लोगों को छोड़कर गए, जूली दो वर्ष की थी। उन्होंने जूली को अपनी गोद में लेकर शपथ-

पूर्वक कहा था कि 'मैं तीन मास में सपरिवार वापस आऊँगा।' परंतु उनकी यह प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हुई। हाँ, किसी अंश में पूर्ण हुई, आज बारह वर्ष बाद।' वह तो नहीं आए, लेकिन उनका परिवार अवश्य आया।" कहते-कहते मैडम मेरी मैडिलीन अपनी आँखें रूमाल से ढककर रोने लगी। उच्छ्वास के साथ हृदय का कई वर्षों का संचित कोष ख़ाली होने लगा।

और, मानदादेवी? वह तो बहुत देर से रो रही थीं। दोनो ने एक दूसरे को देखा, और दूसरे ही क्षण दो पवित्र आत्माएँ आलिंगन-पाश में बद्ध होकर अपनी-अपनी मौन पीड़ा अनुभव करने लगीं।

जूली (ज्योत्स्ना) और ओंकार उस चित्र की ओर देखने लगे, जो उनके पिता का था। उन्हें ऐसा भ्रम हुआ, मानो चित्र हँस रहा है। वास्तव में चित्र नहीं हँस रहा था, विधाता का विधान अपनी सहज हँसी से मुस्किरा रहा था।

सती के शब्द

(१)

संध्या की कालिमा ने मनमोहन की निराशाओं को प्रेम के साथ अपने हृदय से लगा लिया। उन्होंने काँपते हुए हाथों से लीडर का 'वांटेड'-कालम देखना शुरू किया। सिफ़ारिश और रिशवत देने की हैसियत से हीन, अभागे नवयुवकों का सहारा समाचार-पत्रों का 'वांटेड'-कालम ही होता है। कोई-कोई तो हर-एक आवश्यकता के लिये प्रार्थना-पत्र लिखना आरंभ कर देते हैं, और इस तरह पोस्टेज द्वारा अपनी ग़रीबी से सरकार का ख़ज़ाना भरते हैं। कोई-कोई किसी विशेष स्थान के लिये ही अपना प्रार्थना-पत्र भेजते हैं। दूसरी श्रेणी में हमारे मनमोहन का स्थान था। उनकी दशा इतनी गिरी हुई थी कि सवाआने का प्रार्थना-पत्र भी निरर्थक भेजना ग़रीबी में आटा गीला करनेवाला था। उनकी दृष्टि में वैसी ही उद्विग्नता थी, जैसी उन विद्यार्थियों में होती है, जो अपनी परीक्षा के बाद उसका फल जानने के लिये स्टेशन अथवा समाचार-पत्रों के एजेंट के द्वार पर इकट्ठा होकर देखते हैं। मन-मोहन की दृष्टि 'वांटेड'-कालम को ढूँढ़ती हुई एक जगह ठहर गई। उस विज्ञापन का हिंदी-अनुवाद यह है—

"आवश्यकता है एक ऐसे नवीन एम्० ए० की, जिसने बी० ए० तक संस्कृत पढ़ा हो, और एम्० ए० फ़िलॉसफ़ी में पास किया हो। देखने में सुंदर, मनोरंजक और चरित्रवान् होना ज़रूरी है। आयु में २५ वर्ष से अधिक न हो। और, अगर अविवाहित हो, तो एक

विशेष गुण समझा जायगा। फ़ोटो आवेदन-पत्र के साथ भेजना चाहिए। बग़ैर फ़ोटो के किसी प्रार्थना-पत्र पर विचार न किया जायगा। वेतन ढाई सौ रुपया, अलावा खाना और रहने के लिये मकान। पता—राजा सर महेंद्रकुमारसिंह के० सी० एस्० आई०, राजनगर।"

मनमोहन की अटकी हुई आँखें उत्फुल्ल हो उठीं, लेकिन दूसरे ही क्षण फिर उनसे निराशा झाँकने लगी।

उन्होंने आगे देखना शुरू किया, लेकिन उस दिन के लीडर में उनके काम-लायक़ दूसरा विज्ञापन नहीं था। उन्होंने लीडर खोल-कर भी न देखा कि उस दिन के समाचार क्या थे। समाचारों में उनके लिये आकर्षण न था। भूखे पेट के लिये रोटी चाहिए। ग्रेजुएटों की बेकारी कोई छिपा हुआ भेद न था। आज तक उन्होंने न-मालूम कितने आवेदन-पत्र भेजे थे, परंतु उत्तर एक का भी न आया था। न-मालूम उनके आवेदन-पत्र किस गंभीर गह्वर का ख़ाली पेट भर रहे थे। उन्होंने लीडर को फेंक दिया। लीडर के पन्ने कमरे में बिखरकर उनकी छिपी हुई ग़रीबी का रहस्य देखने लगे।

मनमोहन ने कुछ देर तक विचार-सागर में ग़ोते लगाकर लाल-टेन के क्षीण प्रकाश को कुछ तेज़ किया। दीपक की लौ प्रज्वलित होकर क्रोध से उनके सुंदर मुख को विद्रूप करने लगी। उन्होंने शीशा उठाकर अपना चेहरा देखा—"क्या मैं सुंदर हूँ ?" इस प्रश्न का उत्तर वह ढूँढने लगे। अपने मुख को किसी दूसरे का समझ-कर उसकी आलोचना करने लगे। हालाँकि वह निष्पक्ष परीक्षक की भाँति अपने चेहरे की सुंदरता की जाँच कर रहे थे, परंतु पापी मन उनका पक्ष लेता उन्हें प्रतीत होता। खीझकर शीशा ज़मीन पर पटक दिया। अभागे को अच्छा पुरस्कार मिला! खरा कहने-

वालों को ऐसा ही पुरस्कार इस पुरानी दुनिया में मिलता आया है।

लेकिन मन फिर न माना। वह दुबारा शीशा उठाकर देखने लगे। उनके अवयव तो वैसे ही थे, कोई फ़र्क़ न पड़ा था। हाँ, आशा और निराशा के युद्ध की प्रतिच्छाया ज़रूर थी। उनके मन ने उन्हें सुंदर होने का सार्टीफ़िकेट दे दिया। उन्होंने धीमे स्वर में कहा—"अगर सुंदर नहीं, तो इतना बदशकल भी नहीं, जिससे क़ै हो जाय।" अपनी विवेचना से वह आप हँसने लगे।

मन में दूसरी विचार-तरंग उठी—"फ़ोटो ! यह तो एक समस्या है। मेरे पास अपना फ़ोटो तो है नहीं, फिर क्या भेजूँ। फ़ोटो में मेरा कैसा रूप होगा, यह कौन कह सकता है। ताज़ा फ़ोटो होना चाहिए। एक है भी, तो वह है ग्रूप में, और पाँच साल का पुराना। वह लड़कपन का था, अब मैं जवान हूँ—नहीं, हो रहा हूँ। अच्छा, ज़रा ग्रूप का फ़ोटो तो देखूँ, कुछ-न-कुछ आभास तो मिल ही जायगा।"

मनमोहन ने दूसरे ही क्षण धूल से भरा हुआ फ़ोटो उतारा। धूल ग़रीबी छिपा रही थी, मनमोहन ने उसे फूककर उड़ा दिया। टूटा हुआ काँच एक खनखनाहट की आवाज़ करता हुआ भूमि पर गिर पड़ा। उन्होंने उस अभागे की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया ; जैसे बड़े आदमी चलते हुए किसी याचक को ठुकराकर परवा नहीं करते।

फ़ोटो क्या था, एक बालक का बिगड़ा हुआ चित्र था। प्रकाश की रेखाएँ उनके चेहरे पर इतनी तेज़ी से पड़ी थीं, जिससे उनके खादी के सफ़ेद कोट का रंग उससे होड़ कर रहा था। उद्विग्न मन वह चित्र देखकर जल उठा। और, वह भी उस कोठरी का एक कोना झाँकने लगा।

मनमोहन के मन ने कहा—"मैं चरित्रवान् हूँ! चरित्र की परिभाषा क्या है? मुझमें कोई दुर्गुण नहीं, न मैं शराब पीता हूँ, न सिगरेट का ही व्यसन है, पान तक नहीं खाता। दूसरे के धन की परवा नहीं करता। कोई "बाज़" नहीं हूँ। सादा भोजन करता हूँ। आडंबर-हीन हूँ। सब गुण तो मुझमें हैं, परंतु ये कैसे बतलाए जायँ। इनका परिचय कैसे दूँ। राजा साहब बिलकुल अहमक़ मालूम होते हैं। भला चरित्रवान् को परख वह कैसे करेंगे, और कौन चरित्रवान् का सार्टीफ़िकेट दे सकता है। सभी अपने को चरित्रवान् समझते हैं।"

मनमोहन के हृदय में क्षीण आशा की ज्योति किंचित् प्रखर हो गई, और मन छलाँगें भरने लगा। वह सोचने लगे—"मैंने प्रथम श्रेणी में एम्० ए० फ़िलॉसफ़ी में पास किया है, बी० ए० में संस्कृत भी पढ़ा है। मेरी आयु अभी २१ वर्ष की है। सुंदर हूँ, 'मनोरंजक।' फिर गाड़ी रुकती है। मनोरंजक के क्या अर्थ हैं—मज़ाकिया। दिलख़ुश। प्लेजेंट (Pleasant) "ह्यूमरस" होना ज़रूरी है। तो क्या मुझमें ह्यूमर है? ह्यूमर न भी हो, लेकिन मुहर्रमी भी नहीं हूँ; और चरित्रवान् तो हूँ ही। मुझमें इस विज्ञापन की सारी विशेषताएँ मौजूद हैं। एक बार आवेदन-पत्र भेजूँ तो, देखूँ क्या फल होता है। दूसरे प्रार्थना-पत्रों की तरह इसका भी फल होगा। राजा साहब किसी सिफ़ारिशी टट्टू को भरती करेंगे, या मेरे-जैसे अभागे, निराश्रय को। वेतन ढाई सौ रुपया है, मकान और खाना अलग। मेरा क्या ऐसा भाग्य होगा?"

मनमोहन लीडर का पहला पृष्ठ उठा लाए। उस विज्ञापन को फिर देखने लगे। विज्ञापन वैसा ही था। वह बार-बार उसे पढ़ने लगे। जितना पढ़ते, उतनी ही आशा प्रज्वलित होती। वह दूसरे क्षण काग़ज़ लेकर प्रार्थना-पत्र लिखने लगे।

घंटे-भर की मेहनत के बाद प्रार्थना-पत्र समाप्त हुआ। लिखने में उन्होंने बड़ी सतर्कता से काम लिया था। एक-एक अक्षर बनाकर लिखे थे। लालटेन के क्षीण प्रकाश में भी अक्षर मोती की भाँति चमक रहे थे, जिनमें मनमोहन की आशाएँ एक-एक पिरोई हुई थीं। जैसे ही मनमोहन ने उसे समाप्त किया, पड़ोस के मिस्टर रामजीमल की घड़ी ने बारह बजा दिए। मनमोहन ने एक जम्हाई लेते हुए क़लम नीचे रख दी। फिर तुरंत ही ख़याल आया कि फ़ोटो के बारे में क्या लिखा जाय। उन्होंने क्षण-भर सोचकर आवेदन-पत्र के नीचे लिखा—"अगर मैं यह लिखूँ कि मेरा फ़ोटो मेरे पास नहीं है, तो शायद मैं अपनी ग़रीबी का इज़हार करूँगा, परंतु वास्तव में ऐसा ही है। इतना ज़रूर विश्वास दिला सकता हूँ कि मैं अगर सुंदर कहलाने लायक़ न भी होऊँ, परंतु बदशकल भी नहीं हूँ। मेरा वर्ण शुभ्र-गौर है, और मुखाकृति कुछ बुरी नहीं है। यदि मैं ऐसा भाग्य-वान् हुआ कि मुझे यह अवसर मिले, तो मैं साक्षात् के लिये सेवा में उपस्थित हो सकता हूँ, हालाँकि मेरी स्थिति ऐसी नहीं है। अपनी ग़रीबी का स्पष्ट हाल लिखने के लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। सत्य को छिपाना मेरी आदत नहीं।"

मनमोहन ने क़लम फिर नीचे रख दी, और निश्चिंतता की एक गहरी साँस ली। उस साँस ने उनके हृदय का भार हलका कर दिया। उन्होंने प्रार्थना-पत्र बंद कर, दीपक निर्वाण कर मलीन शय्या में अपने विचारों को छिपाने के लिये शरण ली। बाह्य अंधकार ने उनके अंतस्तल के अंधकार को छिपा लिया।

(२)

पूर्व घटना के एक सप्ताह पश्चात्, बुधवार की दोपहर को, पोस्ट-मैन मनमोहन के दरवाज़े पर आकर ठहर गया। पोस्टमैन एक परिचित व्यक्ति था, और उसी मुहल्ले में रहता था। वह मनमोहन

की वास्तविक स्थिति से भली भाँति परिचित था। उसको उनसे कुछ स्नेह था। यदि यह कहा जाय कि उनकी दीन दशा से उसके हृदय में सहानुभूति और दया जाग्रत् हो जाती थी, तो ग़लत न होगा। सहानुभूति का ही दूसरा नाम है मानवता। पोस्टमैन एक सहृदय मनुष्य था।

मनमोहन घर पर ही थे, किंतु भीतर से किवाड़ बंद थे। उसने धीमे स्वर से पुकारा—"बाबूजी! ज्येष्ठ मास की लू अपनी प्रबल बवंडरों से लखनऊ को झुलसा रही थी। मनमोहन उस समय सो रहे थे।

पोस्टमैन ने इस बार ज़ोर से पुकारा—"बाबूजी!"

मनमोहन की नींद टूट गई, उन्होंने द्वार खोलते हुए कहा—"कौन, तुम रामप्रसाद हो। आओ, बैठ जाओ। क्या पानी पिओगे, लाऊँ?"

रामप्रसाद पोस्टमैन के चेहरे से प्रसन्नता टपकी पड़ती थी। उसने बिना किसी भूमिका के कहा—"आज आपके नाम एक इंश्योर्ड चिट्ठी है।"

मनमोहन ने उत्तर दिया—"होगी। मालूम होता है, बैंक ने इस बार मनीऑर्डर से नहीं, 'इंश्योर्ड लेटर' से रुपया भेजा है। यह तो नई बात है।"

रामप्रसाद ने बिना किसी आव-भगत का इंतज़ार किए ज़मीन पर बैठकर कहा—"नहीं, बाबूजी, यह हर महीनेवाला मनीऑर्डर नहीं है। हमेशा तो आपको २५) रु० ही मिलते हैं, इस मर्तबे तो माल गहरा है। और, यह इंपीरियल बैंक से नहीं आया, बल्कि राजा साहब, राजनगर इस इंश्योर्ड लेटर के भेजनेवाले हैं। बाबूजी, आपकी जान-पहचान तो बहुत बड़े-बड़े आदमियों से मालूम होती है, और आप ऐसे...............।"

पोस्टमैन अभी अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि मन-मोहन ने बात काटकर अत्यंत उत्सुकता से कहा—"कहाँ से, राजा साहब, राजनगर के यहाँ से ! आह, क्या मैं इतना भाग्यशाली हूँ। लाओ, देखूँ।"

रामप्रसाद की समझ में कुछ न आया। उसने पत्र निकालकर मन-मोहन को दिया। लिफ़ाफ़ा मिलते ही मनमोहन ने उसे फाड़ डाला, और जैसे ही पत्र निकाला, एक सौ रुपए का नोट ज़मीन पर गिर पड़ा। मनमोहन ने उस ओर ध्यान नहीं दिया, वह पत्र पढ़ने लगे। पत्र इस प्रकार था—

प्रिय महाशय,

मुझे श्रीमान् राजा साहब बहादुर ने आज्ञा दी है कि आपके पास १००) भेज दिए जायँ, और श्रीमान् राजा साहब बहादुर आपको अपना परसनल कैपेनियन नियुक्त करते हैं। आप यथा-शीघ्र राजनगर में आकर साक्षात् करें।

जगदीशप्रसाद

प्राइवेट सेक्रेटरी

श्रीमान् राजा सर महेंद्रकुमारसिंह

(के० सी० एस० आई०)

मनमोहन का हृदय धड़क रहा था, आँखें नाच रही थीं। उन्हें विश्वास न हुआ कि यह सत्य है। वह फिर पढ़ने लगे, किंतु वह सत्य था।

इसी समय रामप्रसाद पोस्टमैन ने कहा—"बाबूजी, यह नोट तो सँभालिए।"

मनमोहन ने नोट हाथ में लेते हुए कहा—"कहो रामप्रसाद, तुम्हें क्या इनाम दूँ। आज तुम मेरे लिये वह चीज़ लाए हो, जिसका कुछ भी मूल्य नहीं हो सकता।"

रामप्रसाद ने प्रसन्न होकर कहा—"बाबूजी, क्या बात है ?"

मनमोहन ने प्रसन्नता के साथ कहा—"मुझे ढाई सौ की जगह मिल गई है। राजा साहब, राजनगर ने मुझे अपना मुसाहिब बनाया है। ख़र्चे के लिये सौ रुपए पेशगी भेजे हैं।"

रामप्रसाद ने उत्तर दिया—"भगवान् ने आज हमारी फ़रियाद सुन ली। आज ही महावीरजी का प्रसाद चढ़ाऊँगा। भगवान् करे, तुम फूलो-फलो। तुमने बड़ी तपस्या की है, उसका फल आज मिला। बड़े-बूढ़े सच कहते हैं कि तपस्या कभी निष्फल नहीं जाती। भाई शिवसहाय और भौजाई को यह सुख देखना नसीब नहीं था, नहीं तो क्यों वे असमय, एक ही दिन, तुम्हें छोड़कर, चल देते। लेकिन भैया, तुमने भी पूरी हिम्मत से काम लिया। उनके मरने के पीछे तुमने चार साल तक पढ़ा, और हिम्मत न हारी। ग़रीब के भी तो भगवान् होते हैं। सदा अमीरों की सुनते हैं, तो कभी-कभी ग़रीब की भनक भी पहुँच ही जाती है। भैया, ईश्वर जानता है, जैसी मुझे आज ख़ुशी हुई है, पुत्तन के इंट्रेंस पास होने पर नहीं हुई थी। ईश्वर करे, तुम्हारी हज़ार बरस की जिंदगी हो, और बड़े-से-बड़े ओहदे पर जाओ। हाँ, भैया, सिर्फ़ इतना कहता हूँ कि मेरे पुत्तन का ख़याल रखना, कहीं अपने नीचे ३०-४०) की जगह दिला देना।"

मनमोहन ने उत्तर दिया—"हाँ-हाँ, पुत्तन तो मेरा छोटा भाई है। उसका मैं हमेशा ख़याल रक्खूँगा। तुम उसके लिये चिंता मत करो।"

पोस्टमैन ने उठते हुए कहा—"अच्छा, भैया, दस्तख़त कर दो, मैं जाऊँ।"

मनमोहन ने रामप्रसाद को बिठाते हुए कहा—"नहीं, ज़रा ठहरो, मुँह तो मीठा कर लो, फिर जाना। अभी बड़ी धूप है, दस मिनट ठंडा लो। तुम ज़रा बैठो, मैं दौड़कर बर्फ़ ले आऊँ। ठंडा पानी पी लो, फिर जाना।"

रामप्रसाद नहीं-नहीं करता ही रहा, और मनमोहन घर के बाहर हो गए। थोड़ी देर बाद मिठाई की एक टोकरी और बर्फ़ लिए हुए आए। मिठाई की टोकरी रामप्रसाद के सामने रख दी।

रामप्रसाद ने आपत्ति करते हुए कहा—"अरे, मैं क्या इतनी मिठाई खा सकूँगा, अभी दो घंटा पहले तो पेट भरकर रोटी खाई है। बड़े डाकख़ाने जाकर और डाक लेकर अभी पहले तुम्हारे यहाँ आया हूँ। देखा कि आज भैया के नाम सौ रुपए का बीमा है, लाओ पहले उनको दे आऊँ। सच भैया, मुझे बिलकुल भूख नहीं है। हमारा मिठाई खाना तो भाई-भौजाई के साथ गया।" कहते-कहते रामप्रसाद की आँखों में वेदना की दो बूँदें संसार की उज्ज्वलता देखने के लिये चिक हटाकर बाहर आ गईं। मनमोहन का भी हृदय भर आया।

मनमोहन ने बर्फ़ धोकर गिलास में डालते हुए कहा—"मेरे भाग्य में वह सुख नहीं था। क्या करूँ। मन में तो बहुत थी, लेकिन भाग्य भी कोई वस्तु है। अभागे का कोई सहारा नहीं होता। अगर सहारा ही हो, तो वह फिर अभागा क्यों कहलावे।"

रामप्रसाद ने उत्तर दिया—"अरे, तुम अभागे क्यों हो, भैया। तुम्हारा भाग्य तो सबसे अच्छा है। भगवान् की कृपा से तुमने एम्० ए० पास किया, और ऐसी बड़ी नौकरी मिली। और क्या चाहिए। अब एक बहू घर में आ जाय, तो सब घर भर जाय।"

मनमोहन ने विषय बदलते हुए कहा—"तो खाओ, और अगर खाने की न इच्छा हो, तो लाओ, जाकर चाची को दे आऊँ। दस-बारह घर का ही फ़ासला है। अभी-अभी दिए आता हूँ।"

रामप्रसाद ने आपत्ति करते हुए कहा—"नहीं-नहीं, तुम्हारे ले जाने की ज़रूरत नहीं, मैं ही लेता जाऊँगा। भैया, तुम्हारा अनुरोध भी नहीं टाल सकता। भैया, अगर मेरा कहना मानो, तो ५)

के लड्डू महावीरजी को चढ़ा दो, और प्रसाद मुहल्ले में बाँट दो। सबको मालूम तो हो जाय।"

मनमोहन ने पानी का गिलास देते हुए कहा—"हाँ-हाँ, ज़रूर। आज बुधवार है, अगले मंगलवार को प्रसाद बाँट दूँगा। प्रसाद ही क्यों, सत्यनारायण की कथा कराऊँगा, और सब मुहल्लेवालों को खिलाऊँगा।"

रामप्रसाद ने पानी पीकर कहा—"वाह, तब तो बड़ा अच्छा हो। क्यों न हो, हो तो आख़िर भाई शिवसहाय के लड़के।"

पोस्टमैन रामप्रसाद उठ खड़ा हुआ, और यह शुभ संवाद मुहल्ले में कहने के लिये चला गया। मनमोहन दुबारा वह पत्र पढ़ने लगे।

(२)

एक ज़माना था, जब राजनगर की गणना अवध के समृद्धि-शाली राज्य में, प्रथम श्रेणी की जागीरों में, थी। सामंत वीरेंद्र-प्रताप के नाम से एक बार अवध के नशीले नवाबों की पीनक में मृदु कंपन हो जाता था, और जिस दिन अवध की नवाबी विला-सिता के खँडहरों में दफ़ना दी गई, वीरेंद्रप्रताप को राजा के ख़िताब से महारानी विक्टोरिया ने पुरस्कृत कर शेर के पंजों में लोहे के निगड़ पहना दिए। राजनगर की जागीर वैसी ही क़ायम रक्खी, लेकिन फ़ौजदारी अख़्तियारात छीन लिए, और उसके बदले ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बना दिया। राजा वीरेंद्रप्रताप ने हवा का रुख़ देखा, और अपनी नाव उसी ओर खेने लगे। अपने पुत्र राजेंद्र-प्रताप को अँगरेज़ी पढ़ाकर एक सुयोग्य शासक बनाया। पिता का गौरव जीवित रहा, और सरकार ने उन्हें राजा के पुश्तैनी ख़िताब से सम्मानित किया। लक्ष्मी और सरस्वती का मधुर संगम महेंद्र-कुमार में ही देखने को मिला। राजा महेंद्रकुमारसिंह ने पितामह और पिता की कीर्ति को ज्योतिर्मय कर दिया। विलायत में दस

वर्ष रहकर पश्चिमीय परिष्कृत सभ्यता के उज्ज्वल रंग को आज बीस वर्ष से भारतीय दर्शन-शास्त्रों की सुप्रभामयी धवलता से चमत्कृत कर रहे थे। मानव-जीवन की प्रहेलिकाओं की गुत्थियों को सुलझा-सुलझाकर वह एक माला पिरोना चाहते थे। और, इसी काम के लिये उन्हें एक सद्यस्नातक—जो पूर्वीय और पश्चिमीय फ़िलासफ़ी की प्राथमिक रेखाओं से जानकार हो, जो उनके विचारों को समझकर विना टीका-टिप्पणी किए लिख सके, जो स्वयं चरित्र-वान् होकर भगवान् के प्रथम आशीर्वाद के मूल्य को समझ सके—रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। लीडर में विज्ञापन दिया, और फल-स्वरूप मनमोहन को वह पद प्राप्त हुआ। भाग्य की प्रभात-किरणें नव संदेश लेकर मनमोहन को नहलाने लगीं। तभी तो कहते हैं, मनुष्य निरुपाय है—केवल अहंकार का पुतला है। अंधा यही जानता है कि आँखों का प्रकाश उसके शरीर की एक वस्तु-विशेष है, परंतु फिर भी वह एक भिन्न वस्तु है, और उसका निज का अस्तित्व है।

सौंदर्य ईश्वर का एक रूप है। जो सबसे सुंदर है, वही भगवान् है। ऐहिक सुंदरता रंग और रूप में ही सीमित है—परंतु उसमें भी जो सौंदर्य है, वह एक ईश्वरीय गुण है। राजा महेंद्रकुमार-सिंह सौंदर्य के पुजारी थे, उनका कथन था—सत्यं, शिवं, सुंदरं, ये ही ईश्वर के तीन गुण हैं। इसीलिये वह एक सुंदर व्यक्ति की खोज में थे।

राजनगर का प्रासाद गंगा के तट पर बना हुआ था। बड़े महा-राज ने एक बारहदरी गंगा की धार में बनवाई थी, हालाँकि उसके बनवाने में लाखों रुपए पानी में डाल दिए गए थे। उस बारहदरी के तीन ओर गंगाजी की धवल धारा सदा बहा करती थी। उसके चारो ओर का बग़ीचा तो खुले हाथों से वायु को सुरभि का दान

करता था। राजा महेंद्रकुमारसिंह को वह स्थान बहुत प्रिय था, और वहीं पर उन्होंने अपना अध्ययन-कक्ष बनाया था। बारहदरी से हटकर, महल की तरफ़, दो कमरे, एक ग़ुसलख़ाना और एक भोजनालय इनके बनवाए हुए थे, और सदैव वहीं रहते थे। केवल दोपहर को दो घंटे वह नियमित रूप से रियासत का काम-काज देखते और मुक़दमों का फ़ैसला करते थे।

राजा साहब में एक विशेष गुण यह था कि वह हँसमुख-मिज़ाज के थे। उनका मज़ाक़ शिष्ट और हँसानेवाला होता था। अप्रीतिकर शब्द निकालना उनका स्वभाव न था, परंतु वह अवसर शायद ही कभी चूकते। यह नहीं कि गांभीर्य उनमें न हो। हाँ, गंभीरता ज़रूरत से ज़्यादा नहीं थी। प्रजावत्सल और न्यायी भी थे। परंतु इतने गुणों में उनमें एक ऐब भी था, वह कानों के कच्चे थे। किसी की शिकायत सुनकर पहले तो भड़क जाते, परंतु बाद में विचारकर उसका न्याय करते थे। हालाँकि उनको कई मर्तबे पाश्चात्ताप करना पड़ा, परंतु स्वभाव छूटना अगर असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

दोपहर बीत गई थी, दो बज गए थे। तप्त बवंडर के झोंके एक बार अपने पूरे बल से बारहदरी के बाहर ख़स की टट्टियों से टक्कर लेते, और ठंडे होकर राजा साहब के पास पहुँचते। बारहदरी में गरमी नाम को न थी। राजा महेंद्रकुमारसिंह अभी कुछ थोड़ी देर पहले कचहरी से वापस आकर बैठे थे, और अपनी पांडुलिपि पढ़ रहे थे कि नौकर ने उनके सामने, चाँदी की तश्तरी में, एक विज़िटिंग कार्ड रख दिया। उन्होंने उसे उठाकर देखा, और तुरंत ही नौकर से कहा—"जाओ, ले आओ।"

थोड़ी देर बाद मनमोहन ने लखनवी वेश में—चूड़ीदार पायजामा और शेरवानी पहने—प्रवेश किया। मनमोहन ने प्रणाम किया।

प्रणाम का उत्तर एक मधुर हास्य के साथ देकर राजा साहब ने कहा—"आप आ गए। मैं तो आपकी प्रतीक्षा ही कर रहा था। बैठिए। कहिए, मार्ग में आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ। आज गरमी ज़्यादा है, गरमी से आप परेशान हो रहे होंगे...।" कहते-कहते राजा साहब रुक गए, और एकटक उस युवक की ओर देखने लगे।

मनमोहन उन्हें इस प्रकार देखते देखकर सकपका गए। मनमोहन ने अपना सिर नीचा कर लिया।

राजा महेंद्रकुमारसिंह ने कुछ लज्जित होकर एक कुर्सी की ओर इशारा करते हुए कहा—"बैठिए।" फिर थोड़ी देर बाद कहा—"मैं आपको देखकर कुछ ताज्जुब में आ गया। आपको देखकर मुझे अपनी जवानी याद हो आई। मुझसे आपकी इतनी समानता है! देखिए, उस मेज़ पर मेरा एक फ़ोटो रक्खा हुआ है; यह उस समय का है, जब मैं इँगलैंड से लौटा था। उससे आप अपना चेहरा मिलान कीजिए, तो आपको स्वयं मालूम हो जायगा।"

मनमोहन ने शर्माकर कहा—"जी हाँ, होगा। कभी-कभी ईश्वर मज़ाक़ भी करते हैं। वह वृद्ध तो ज़रूर हो गए हैं, लेकिन कौतुक-मय होने से कोई-कोई कौतुक कर बैठते हैं।"

राजा साहब के चेहरे पर हँसी नाचने लगी, और मनमोहन भी मुस्किरा दिए।

राजा महेंद्रकुमार ने प्रसन्न कंठ से पूछा—"आपके पिता का क्या नाम है?"

मनमोहन ने उत्तर दिया—"पोषक पिता का तो नाम मालूम है, लेकिन जन्मदाता का नहीं मालूम। मेरे पोषक पिता का नाम मुंशी शिवसहाय था। वह लखनऊ में सबजज के दफ़्तर में उर्दू-मुहर्रिर थे। उनका देहांत २७ दिसंबर, सन् १९१८ को हुआ था,

और उसी दिन मेरी पालनेवाली माता का भी देहांत हुआ। दोनो इन्फ्लूएंज़ा में मर गए। उन्हीं की ज़बानी एक मर्तबे मैंने सुना था कि मैं उनकी बहन का लड़का हूँ, जो उनके यहाँ रहती थी। उनकी बहन यानी मेरी मा को उनके बहनोई यानी मेरे जन्मदाता पिता ने त्याग दिया था। मेरा जन्म उनके घर में ही हुआ। मेरा जन्म होने के छ महीने बाद मेरी मा का देहांत हो गया, और मुझे मुंशी शिवसहाय ने गोद ले लिया। मैं तो उन्हीं को अपना पिता जानता हूँ। उन्होंने कभी वह भेद नहीं बतलाया, और न मुझे पूछने की ही हिम्मत हुई, न कभी ऐसा मौक़ा ही आया। वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। मैं आपसे उनके अंतिम काल की अवस्था नहीं वर्णन कर सकता। वह मेरे नाम को याद करते-करते मरे, और यही हाल मेरी माता का हुआ।" कहते-कहते मनमोहन की आँखों में आँसू भर आए।

राजा महेंद्रकुमार ने विषय बदलते हुए कहा—"तो आपने इसी साल एम्० ए० पास किया है?"

"जी हाँ, इसी साल पास किया है। आपके अशीर्वाद से युनि-वर्सिटी का रिकार्ड बीट किया है, और सर रामनाथ-मेडल भी मुझे मिला है।" मनमोहन ने जवाब में कहा।

राजा महेंद्रकुमार ने मुस्किराकर कहा—"मुझे ऐसे विद्वान् सहकारी के मिलने से बड़ी प्रसन्नता है। अच्छा, तो मैं आपको आपके काम-काज की सूचना दे दूँ।"

मनमोहन ने उत्तर दिया—"जी हाँ, बड़ी कृपा होगी।"

राजा महेंद्रकुमार ने अपनी पांडु-लिपि दिखलाते हुए कहा—"यह पुस्तक मैं भारतीय दर्शन-शास्त्र पर लिख चुका हूँ। इसमें पश्चिमीय विद्वानों के भी उद्धरण हैं, और अधिकतर यह तुलनात्मक समालोचना है। मैं इसमें आपकी सहायता चाहता हूँ। मैं जिस

प्रकार कहूँ, आप उसी प्रकार लिखते जायँ। मैं रोज़ देखकर ठीक करता रहूँगा। आपको चार घंटे रोज़ाना लिखना पड़ेगा। एक-एक अध्याय का मसाला मैं आपको देता रहूँगा। आपको केवल उन विचारों को संबद्ध करना होगा। अगर आपसे इतना काम न हो सकेगा, तो मैं बोलता रहूँगा, और आप लिखते रहेंगे। यह तो आपके लिये दिन का काम होगा। रात्रि को दो घंटे भारतीय दर्शन-शास्त्रों को पढ़ना और मुझे सुनाना पड़ेगा। हम लोग वाद-विवाद करेंगे। बाक़ी दिन-भर आप चाहे मेरे पास बैठकर बातें करें, और चाहे अपना निज का काम। या यों कहिए, आपको पूर्ण स्वतंत्रता है। अगर आप मेरे साथ भोजन करना पसंद करेंगे, तो साथ खायँगे, और सरकारी रसोई में आपका खाना बनेगा। अगर अलाहिदा खाना चाहेंगे, तो आपके लिये प्रबंध कर दिया जायगा। हाँ, मैं यह कह देना चाहता हूँ कि मैं निरामिष भोजन करता हूँ। आपके रहने के लिये मेरे ख़ास कमरे के बग़ल में एक कमरा मिलेगा, जिसमें ग़ुसलख़ाना बना हुआ है। आपकी तनाती में एक नौकर रहेगा। और, आप सरकारी सवारियाँ अपने घूमने-फिरने के लिये इस्तेमाल कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त आपको और कोई काम नहीं करना पड़ेगा। परंतु पुस्तक लिखने में आपको तन-मन से काम करना पड़ेगा। अगर उसमें शिथिलता होगी, तो फिर मैं आपको अधिक दिनों तक नहीं रख सकूँगा, वरना आप अपनी जगह मुस्तक़िल समझिए।"

मनमोहन ने उत्तर दिया—"जब आप इतनी सुविधाएँ देंगे, तो फिर मैं अपना कर्तव्य क्यों न पूरा करूँगा।"

राजा साहब ने कहा—"मुझे तो यही आशा है। आपके प्रार्थना-पत्र में एक बात थी, जिससे मैंने आपको ही पसंद किया है। वह यह थी कि 'सत्य को छिपाना मेरी आदत नहीं।' इसी विश्वास

और भरोसे पर आपको बुलाया है। आप ही का वाक्य आपका 'मोटो' यानी ध्येय होना उचित है।"

इसी समय नौकर एक तश्तरी में कुछ फल और मिठाई लेकर आया। राजा साहब ने उससे दूसरी तश्तरी लाने के लिये कहा। फिर उसे ठहराकर कहा—"मैं जल-पान महल में करूँगा, वहाँ इंतज़ाम करो। मैं अभी आता हूँ।"

नौकर चला गया।

राजा साहब ने मनमोहन से कहा—"अब आप जल-पान करें, और आराम करें। मैं संध्या समय आपको लेकर घूमने जाऊँगा। आप तैयार रहिएगा।"

यह कहकर राजा महेंद्रकुमार कमरे से बाहर चले गए। मन-मोहन सोचने लगे अपना भविष्य।

(४)

महेलिकामय जीवन के छ महीने बीत गए। सुबह हुई, और शाम, इसी तरह छ महीने बीत गए। बीता हुआ समय समीप मालूम होता है, और आनेवाला दूर। यह तो समय का चमत्कार है। राजा महेंद्रकुमार और मनमोहन में इतनी घनिष्ठता बढ़ गई कि उन्हें बग़ैर मनमोहन के चैन न आता था। यही नहीं, मनमोहन के प्रति उनका स्नेह दिन-पर-दिन बढ़ता जाता था। दिन के १६-१७ घंटे मनमोहन के साथ गुज़रते, और कभी-कभी तो वह उसी बारहदरी में ही सो जाया करते थे। मनमोहन के प्रति इतनी कृपा देखकर लोग उनसे ईर्ष्या करते थे, और ऐसी षड्यंत्र रचना चाहते थे, जिससे वह राजा साहब की कृपा का पात्र न रहे। रियासतें कुचक्र और षड्यंत्र की घर होती हैं।

मनमोहन विनय और सहनशीलता की मूर्ति थे। आज्ञा-पालन तो उनका जन्म-स्वभाव था। राजा साहब का काम वह तन-मन से

करते। उनकी लेखनी में भी वह शक्ति थी, जिसने राजा साहब क्या, बड़े-बड़े विद्वानों को चकित कर दिया। शब्द-विन्यास, भावों की गंभीरता और लेखन-शैली, यह तो उनकी पैत्रिक संपत्ति-सी प्रतीत होती थी। हालाँकि राजा साहब इँगलैंड में दस वर्ष रह चुके थे, और उन्हें नाज़ था कि वह अच्छी अँगरेज़ी लिखते-बोलते हैं, परंतु वह नाज़ मनमोहन की शैली देखकर टूट चुका था। वह तो केवल पथ-प्रदर्शक ही रहे, और मनमोहन की क़लम चलती थी। यही नहीं, मौलिकता में भी मनमोहन ने राजा साहब को चकित कर दिया था। हिंदुओं के प्राचीन शास्त्रों को मथकर एक नवनीत की भाँति तत्त्व निकालते थे, और जब उस पर अपनी टीका लिखते, तब तो सोने में सुगंध पैदा करते थे। राजा साहब को ऐसी सफलता मिल रही थी, जितनी उन्हें स्वप्न में भी आशा न थी। पुस्तक का काम केवल ४ घंटों में ही सीमित न रहा, बल्कि दिन के १४ या १५ घंटे चलता। राजा साहब मनमोहन का अनवरत परिश्रम देखकर चकित रह जाते। उन्हें ऐसा युवक मिलने की आशा नहीं थी।

पुस्तक समाप्त हो गई। टाइपिस्ट ने टाइप करके पांडु-लिपि तैयार कर दी। उसी दिन, संध्या को, राजा साहब ने प्रसन्न कंठ से कहा—"मनमोहन, कहो, तुम्हें क्या पुरस्कार दूँ? मैंने सोच रक्खा था कि यह पुस्तक कम-से-कम तीन साल में समाप्त होगी, परंतु तुमने तो इसे छ महीने में ही समाप्त कर दिया। इन तमाम अल-मारियों की पुस्तकें छानकर तुमने यह रस तो बहुत ही कम समय में निकाल दिया। मैं नहीं जानता कि मैं तुम्हें कैसे धन्यवाद दूँ।"

मनमोहन ने विनीत कंठ से कहा—"पथ के भिखारी को राज-सिंहासन पर आपने बिठा दिया, धन्यवाद तो पथ का भिखारी ही देगा। मनुष्य ईश्वर को धन्यवाद देता है, न कि ईश्वर मनुष्य

को। यह पुस्तक का तो केवल प्रथम खंड है—अभी ४ खंड और लिखे जायँगे।"

राजा महेंद्रकुमार ने प्रहृष्ट मन से कहा—"लेकिन मेरी बीस साल की मेहनत का फल तो यही है। अब दूसरा खंड लिखने के लिये फिर मेहनत करनी पड़ेगी।"

मनमोहन ने कुर्सी से उठते हुए कहा—"अगर गुस्ताख़ी माफ़ हो, तो कुछ अर्ज़ करूँ।"

राजा महेंद्रकुमार ने हँसते हुए कहा—"तुम्हारी 'फ़ारमैलिटी' अभी तक नहीं गई। मैं कई बार तुमसे कह चुका हूँ कि यह आडंबर का चोग़ा उतारकर रख दो। मेरे पुत्र नहीं है, और न मैं बाप होने का सुख ही जानता हूँ, परंतु अगर होता, तो वह तुमसे अधिक प्यारा न होता।"

मनमोहन मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए अपने कमरे में चले गए। थोड़ी देर बाद एक दूसरी हस्त-लिखित प्रति लाकर उनके सामने रखते हुए कहा—"गुस्ताख़ी माफ़ हो, यह मैंने इस पुस्तक का दूसरा खंड लिखने की अनधिकार चेष्टा की है। आपने ईश्वर की सत्ता का निरूपण किया है, और मैंने इसमें आत्मा की शक्ति को विकसित करने का असफल प्रयत्न किया है। अभी तक इसके ५०० पृष्ठ लिख सका हूँ, और यह लगभग समाप्त होने पर है।"

राजा महेंद्रकुमार ने विस्फारित नेत्रों से मनमोहन की ओर देखते हुए कहा—"आश्चर्य है, तुमने यह काम कब किया। तुम तो छिपे रुस्तम निकले।"

राजा साहब हँस दिए। उनके नेत्रों से वह गौरव झाँक रहा था, जो पिता का पुत्र के प्रति होता है। उन्होंने पुस्तक छीन ली, और उसे देखने लगे।

मनमोहन ने उत्तर दिया—"मैंने इसे अपने ख़ाली घंटों में

लिखा है। जब आप रात को आराम करने चले जाते थे, तब मैं लिखा करता था।"

राजा महेंद्रकुमार ने भ्रू कुंचित करके कहा—"तभी तुम इतने दुर्बल होते जाते हो। इतनी मेहनत से स्वास्थ्य कैसे अच्छा रह सकता है।"

मनमोहन ने उत्तर दिया—"नहीं, पहले की अपेक्षा तो मैं हृष्ट-पुष्ट हूँ।"

दूसरे दिन राजा महेंद्रकुमार महल से लगभग १० बजे नीचे बारहदरी में आए। मनमोहन एक पुस्तक पढ़ रहे थे। आते ही उन्होंने मनमोहन की पीठ पर हाथ फेरकर कहा—"वाह, कमाल किया है, क्या ही मैं भाग्यवान् होता, जो तुम मेरे पुत्र होते। ऐसा विद्वान् पुत्र पाकर मेरी सारी तपस्या का फल मिल जाता। तुम एक छिपे हुए हीरे थे। भगवान् ने तुम्हें ढूँढ़ निकालने का श्रेय मुझे दिया है, इसलिये मैं ही तुम्हारी प्रतिभा का पिता हूँ। ये दोनो पुस्तकें साथ छपने जायँगी, और इस पुस्तक के पुरस्कार में मैं तुम्हें एक गाँव देता हूँ।"

मनमोहन गद्गद हो गए। कृतज्ञता के भार से वह खड़े न रह सके, और राजा महेंद्रकुमार के चरणों में नत हो गए। उसी समय किसी ने उठाकर उन्हें अपने हृदय से लगा लिया।

भाग्य-दिवाकर के द्वितीय प्रहर की किरणें मनमोहन को चकित करने लगीं।

(५)

नीरव संध्या का आलोक श्यामल पड़ रहा था। बारहदरी में राजा महेंद्रकुमार अपने सामने एक चित्र रक्खे हुए आँसू बहा रहे थे। शोक का आवेग बाहर निकलता, और थोड़ी देर थमकर दूने वेग से उमड़ने का निष्फल प्रयत्न करता, परंतु निर्बल आँसू अपने

क्षुद्र उतावलेपन से राजा महेंद्रकुमारसिंह की कठोर स्मृति की अनुतापाग्नि को शांत करने की चेष्टा में अपना जीवन दे रहे थे, और स्वामी के नमक को अपने जीवन की आहुति से हलाल कर रहे थे।

संध्या का साँवलापन कालिमा में परिणत होते-होते काजल की कोठरी में परिवर्तित हो गया, और राजा महेंद्रकुमार की अंतः-कालिमा कस्तूरी के रंग में रँग गई। दैव की विडंबना अपनी निष्ठुर हँसी से हँस पड़ी, और स्मृति का वृश्चिक-दंश अपनी बिखरी हुई शक्ति को केंद्रित करने लगा। हाय रे मनुष्य का भाग्य! कौन कहता है कि हम स्वयं कर्ता हैं, कर्ता नहीं, बल्कि खेल है, जिसे आत्मा परमात्मा के साथ आँख-मिचौनी खेलता है।

धीमी, किंतु सजग चाल से मनमोहन ने कमरे में प्रवेश किया। राजा महेंद्रकुमार अपनी बेसुधी के साथ प्रेमालाप कर रहे थे, और स्मृति-वायु के झोंके उनके वसंत-मास की केसर की क्यारी की बिखरी हुई पराग-धूलि को जमा कर रहे थे, और उनके हृदय की कोई मोहक गुदगुदी को आज विष की तड़पन रुला रही थी। उन्होंने नहीं जाना कि कब मनमोहन आकर उनके सामने के चित्र को देखने लगा।

मनमोहन ने मीठे स्वर में पूछा—"पिताजी, आज की डाक में मेरा कोई पत्र है?"

आजकल मनमोहन राजा महेंद्रकुमार को पिताजी कहकर पुकारते थे।

राजा महेंद्रकुमार ने सिर उठाया, और शून्य दृष्टि से मनमोहन की ओर देखा, पहचाना, और दूसरे ही क्षण मनमोहन को तड़पकर अपने हृदय से लगा लिया, और भग्न स्वर से कहा—"बेटा, मुझे क्षमा करो।" हृदय-आवेग ने निर्दयता से कंठ दबा दिया। राजा महेंद्रकुमार के अजस्र आँसू बह-बहकर सावन-भादों के पनालों की तरह विस्मित मनमोहन को नहलाने लगे।

मनमोहन का भी गला भर आया। सहानुभूति गलकर बहने लगी। उसने डूबते-उतराते स्वर से कहा—"पिताजी, क्या है?"

राजा महेंद्रकुमार रोते रहे।

मनमोहन ने फिर पूछा—"पिताजी, सेवक से क्या अपराध हुआ है।"

राजा महेंद्रकुमार ने अधिक आवेग से मनमोहन को हृदय से बाँध लिया। हृदय का स्पंदन अपनी प्रतिध्वनि सुनने लगा।

मनमोहन ने थोड़ी देर बाद कहा—"पिताजी, पिताजी।"

राजा महेंद्रकुमार ने अवरुद्ध कंठ से कहा—"कहो, कहो, बेटा, पिताजी, पिताजी, आह! आज इस अग्नि में शीतलता मिली है। कहो, पिताजी कहो। मैं वास्तव में तुम्हारा पिता हूँ, तुम्हारा पिता हूँ, तुम्हारा पिता हूँ। हूँ पापी, लेकिन तुम्हारा पिता हूँ।" भाग्य की निष्ठुर हँसी में वेदना झाँक रही थी।

मनमोहन ने विस्मित कंठ से कहा—"क्या यह सत्य है, नहीं, आपका भ्रम है।"

राजा महेंद्रकुमार ने कहा—"नहीं, यह मधुर सत्य है। भगवान् ने आज २१ वर्ष की तपस्या पूर्ण की। मैं तुम्हारा पिता हूँ। यह भेद आज खुला है। मैं तुम्हारा पिता हूँ, और तुम मेरी साध की सरोजिनी के गर्भ से उत्पन्न मेरे पुत्र हो।"

मनमोहन ने अपने को राजा महेंद्रकुमार के बाहुपाश से छुड़ाकर क्षण-भर उनकी ओर देखा, और फिर मेज़ पर से वह चित्र उठा लिया—एक नवयौवना यौवन की पहली सीढ़ी पर चढ़कर एक अतीव सुश्री युवक के साथ एक फूलों की वेलकनी के सहारे नीचे जल की ओर झाँक रही थी, और नीचे पानी में लहरें उस प्रति-बिंब को धवल धारा से नहलाकर अस्पष्ट बना रही थीं। वह युवक राजा महेंद्रकुमारसिंह थे, और युवती उनके सुहाग की रानी सरो-

जिनी थी। मनमोहन ने पहचान लिया कि वह चित्र उनकी मा का ही था, जो उन्हें जन्म के ६ महीने बाद मुंशी शिवसहाय की पत्नी को सौंप गई थीं, और जिसने उनके पोषण के लिये पचीस रुपए मासिक ख़र्च दिलाने का प्रबंध इंपीरियल बैंक से कर दिया था। मनमोहन का अपनी मा का चित्र देखा हुआ था, परंतु वह उसकी मा का अकेला चित्र था। यह चित्र राजा और उनकी मा दोनो का था।

चित्र के साथ नत्थी जन्म का एक सार्टीफ़िकेट था, जो कमीशन पर मैजिस्ट्रेट का लिया हुआ था, जिसमें लिखा था—"तारीख़ ११।६।१६१.... को मुंशी शिवसहाय की दरख़्वास्त पर, जो बतौर वली मुसम्मात सरोजिनीदेवी रानी राजा सर महेंद्रकुमारसिंह के० सी० एस्० आई०, राजनगर राज्य के पेश हुई, जिस पर हुक्म हुआ कि रानी बवजह पर्दानशीन होने के कमीशन पर यह जन्म का सार्टीफ़िकेट एक असाधारण कृपा की भाँति, बाद बयान और शहादत कर दिया जाय, लिहाज़ा मैं डी० सी० जोन्स, डिप्टी-कमिश्नर, लखनऊ रूबरू मोतबिरान के तसदीक़ करता हूँ कि आज बुधवार तारीख़ ११।६।१६१.... शाम के चार बजे एक पुत्र मुसम्मात सरोजिनीदेवी, पत्नी राजा सर महेंद्रकुमारसिंह के० सी० एस्० आई० के, जिसके सबूत से एक फ़ोटो पेश हुआ है, जिसमें रानी सरोजिनीदेवी अपने पति राजा सर महेंद्रकुमारसिंह के० सी० एस्० आई० के साथ हैं, और सर महेंद्र के हस्ताक्षरों में लिखा है—Presented to my darling Sarojini Devi—Mahendra Kumar. जो दस्तख़त राजा की तहरीर से एक्सपर्ट द्वारा प्रमाणित हो गए हैं। मैंने उस चित्र की युवती का ज़च्चा सरोजिनीदेवी से मिलान किया, तो मैंने उन्हें एक पाया। इसलिये मैं यह ज़ाहिर करता हूँ कि उन्होंने उपर्युक्त तारीख़ को एक पुत्र उत्पन्न किया है,

जिसका फ़ोटो मैं इसके साथ नत्थी करता हूँ। बच्चे का नाम मन-मोहनसिंह है।" इसके बाद मैजिस्ट्रेट और मोतबिरान के दस्तख़त थे।

फिर, इसके बाद, इंपीरियल बैंक की पास-बुक थी, जिसके साथ एजेंट का पत्र था, जिसमें लिखा हुआ था—"आज तारीख़ १२। ६। १९१...को श्रीमती सरोजिनीदेवी ने ८०००) चार रुपया सैकड़ा सालाना सूद की दर पर जमा किया है, जिसका सालाना ब्याज ३२०) होता है, जिसमें से २५) माहवारी तो सरोजिनीदेवी के पुत्र मनमोहनसिंह को २१ वर्ष तक मिलेगा, और २१ वर्ष पूर्ण होने के बाद कुल रुपया मनमोहनसिंह को दे दिया जायगा। २०) सालाना बतौर ख़र्च के बैंक कमीशन काट लिया करेगा। एक मोहर-बंद कैश-बॉक्स बैंक के पास है, जो मनमोहनसिंह के हाज़िर होने और मैजिस्ट्रेट के शिनाख़्त करने पर दिया जायगा। यह प्रबंध बैंक अपने विशेष अधिकारों से करने का ज़िम्मा लेता है।"

इसके बाद एजेंट के दस्तख़त थे। पास-बुक में सालाना हिसाब दिया हुआ था, और बैलेंस में ८०००) दिखलाए गए थे।

इसके साथ नत्थी किया हुआ एक सीलबंद लिफ़ाफ़ा था, जिसकी मोहर राजा साहब ने तोड़ डाली थी। उस पर मोती-सरीखे अक्षरों में लिखा हुआ था—"यह लिफ़ाफ़ा मनमोहनसिंह को २१ वर्ष के हो जाने पर दे दिया जाय।"

मनमोहन उत्सुक हाथों से पत्र निकालकर पढ़ने लगे। उसमें लिखा था—

"चिरंजीवि प्राणोपम मोहन,

यह पत्र तुम्हें २१ वर्ष हो जाने के बाद मिलेगा, जब तुम अपना भला-बुरा समझने लगोगे। मैं जानती हूँ, तुम जीवित रहोगे, और अपना अधिकार प्राप्त करोगे। अपने अंतिम समय में यही आशी-र्वाद देकर मैं प्राण त्याग करूँगी। मैं जानती हूँ कि मैं दो-एक दिन

की मेहमान हूँ, और मेरा मरना एक तरह से अच्छा है। तुम्हें छोड़कर तो मर रही हूँ, लेकिन तुम्हें तुम्हारी मौसी के हाथ सौंपकर एक तरह से निश्चिंत हो गई हूँ। इसके अतिरिक्त तुम्हारा भाग्य तुम्हारी रक्षा करेगा। मैं कौन हूँ, और तुम कौन हो, यह मैं अब तुम्हें बताती हूँ।

"ज़िला रायबरेली में राजनगर नाम का एक राज्य है, जिसके राजा वीरेंद्रप्रताप और राजेंद्रप्रताप के तेज से आस-पास के सभी राज्य शंकित रहते थे! अँगरेज़ सरकार ने उन्हें विशेष सम्मानों से अधिकृत किया है। मैं उसी राजनगर के राजा राजेंद्रप्रताप की पुत्र-वधू हूँ।

"मेरे पतिदेव, तुम्हारे पिता, देवोपम राजा महेंद्रकुमारसिंह विलायत से लौटे थे। उनका तेज और प्रताप चारो दिशा में व्याप्त हो रहा था। उनका प्रेम मुझ अभागिनी से हो गया, और मैंने भी उन्हें अपना सर्वस्व भेंट कर दिया। तुम मेरे पुत्र हो, मा की प्रेम-कहानी सुनने के अधिकारी नहीं हो, लेकिन फिर भी तुमसे सब खोलकर कहना पड़ेगा, जिससे तुम अपने अधिकार के लिये लड़ सको, और अपना स्वत्व प्राप्त करो। मैं लाज अलग रखकर तुम्हें सब सच्चा हाल लिखूँगी।

"मेरे पिता ठाकुर महीपतिसिंह काल-चक्र से सब कुछ खो चुके थे। केवल थोड़ी-सी पुश्तैनी सीर बक़ाया थी। मेरी मा का देहांत पहले ही हो चुका था। पिता केवल मुझे ही देखकर जीते थे। एक दिन प्रातःकाल मैं पानी भरने के लिये कुएँ पर गई थी। प्रभात की सफ़ेदी लाल पड़ रही थी। मैं अपनी धुन में मस्त कुएँ पर चली गई, और जगत पर कोई बैठा है, इसका ख़याल नहीं किया। ज्यों ही पानी भरकर नीचे उतरी, सामने एक सुंदर युवक ने आकर कहा—'देवी, तुम कौन हो, और कहाँ रहती हो?'

"सामने एक अपरिचित युवक था। देखते ही आँखें नत हो गईं, और मैं बिना उत्तर दिए जाने लगी।

"युवक ने फिर वही प्रश्न पूछा। इस बार मैंने उत्तर दिया— 'मैं ठाकुर महीपतिसिंह की लड़की हूँ, और इसी गाँव में रहती हूँ।' यह कहकर मैं द्रुत गति से चलकर घर आ गई।

"उसी दिन शाम को वह युवक मेरे घर आया। पिता ने उसे देखते ही प्रणाम किया, और मुझे पुकारकर कहा—'सरो, ज़रा पलँग तो बिछा। आज मेरा घर पवित्र हुआ, मेरे मालिक ने पधारकर मेरा घर पवित्र किया है।'

"मैं दौड़कर आई, तो देखा, वही सुबहवाला युवक है। मैं पीछे भाग गई। पिताजी पुकारते ही रहे। युवक भी 'जाने दीजिए' कहते-कहते एक चारपाई बिछाकर बैठ गया। मेरा कौतूहल न माना, मैं किवाड़े की ओट में खड़ी होकर सुनने लगी।

"युवक ने मेरे साथ विवाह का प्रस्ताव किया। मेरे पिता इससे अधिक क्या चाहते, उन्होंने तुरंत सम्मति दे दी। मैं दूसरे ही दिन उस युवक के साथ ब्याह दी गई, और राजनगर की रानी होकर चौथे दिन राजनगर चली गई। मेरा विवाह गाँव में किसी ने जाना, और किसी ने नहीं, लेकिन राजनगर में सब जान गए। मेरी सास ने मेरा आदर नहीं किया, और मैं अभागिनी न कभी उन्हें प्रसन्न कर सकी। उन्हीं की कृपा से आज मैं पथ की भिखारिन हूँ, और तुम भी अपने अधिकार से वंचित हो। लेकिन उनके प्रति मेरा द्वेष बिलकुल नहीं—यह मेरा अभाग्य था। भिखारिन के भाग्य में राज्य-सुख, यह एक अनहोनी बात है। तुम्हारे पिता का मुझ पर आंतरिक प्रेम था। वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे, इस कारण से और भी मेरी सासजी दुःखित रहती थीं। इन्हीं दिनों मेरे पिता की मृत्यु हो गई। मेरी मौसेरी बहन, जो मेरे

बाद आकर मेरे पिता के पास रहने लगी थी, अपने पति मुंशी शिवसहाय के पास लखनऊ चली गई।

"मेरे पिता के घर के पड़ोस में गयाप्रसाद नाम का युवक रहता था, जो प्रयाग में पढ़ता था। वह मेरा लड़कपन का साथी था, और हम दोनो में भाई-बहन का-सा स्नेह था। एक दिन वह अकस्मात् राजनगर आ गया, और ड्योढ़ी में चला आया। मैं उस वक़्त मर्दाने हिस्से से वापस ज़नाने महल में ऊपरी छत के रास्ते से जाती थी। मैंने झाँककर जो देखा, तो गयाप्रसाद नीचे खड़ा था। उसी समय उसकी भी दृष्टि ऊपर चली गई, और उसने मुझे देख लिया। उस वक़्त ड्योढ़ी पर कोई नहीं था। पहरेदार खाने व तंबाकू पीने चले गए थे। मैं उस वक़्त अल्हड़पन कर बैठी। मैं यह भूल गई थी कि मैं रानी हूँ, और अब मेरे भाई और पिता भी मेरे बेगाने हो गए हैं। मैंने भूल की, और उसे अपने कमरे में बुला लिया। न-मालूम कैसे इसकी सूचना मेरी सास को हो गई। मैं गयाप्रसाद भैया को बिठाकर घर का हाल-चाल पूछ रही थी कि मेरी सास के साथ मेरे पतिदेव आ गए। मेरी सास ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—'ले, देख, आँखें फाड़कर देख, अपनी लाड़ली रानी को, दिन-दोपहर यार को लेकर बैठी है। मैं कहती थी कि बहेतू को रानी बनाया है, किसी दिन इसका फल तुम्हें मिलेगा।'

"मेरे पतिदेव ने जेब से पिस्तौल निकाली, और बिना कुछ विचारे निरपराध गयाप्रसाद भैया पर फ़ायर कर दिया। मैं चिल्लाकर बेहोश हो गई।

"जब होश आया, तो मैं एक अँधेरी कोठरी में बंद थी। मैं बड़ी देर तक अपने भाग्य को कोसती और रोती रही। उसी दिन रात को मेरी दासी ने किवाड़े खोलकर मुझसे धीमे स्वर में कहा—'रानीजी, अगर अपने प्राण बचाना चाहती हो, तो मेरे साथ आओ।

देर मत करो। नहीं तो व्यर्थ में प्राण जायँगे। मैं तुम्हारे प्रेम में फँस गई हूँ, इसलिये तुम्हें निकालती हूँ। जब तुम न मिलोगी, तो तुम्हारे बदले मेरी जान जायगी, लेकिन मुझे अपनी जान का मोह नहीं है। मेरे पीछे कौन रोनेवाला है, परंतु तुम्हारे गर्भ में ८ महीने का युवराज है, उसकी रक्षा तुम्हें करनी ही पड़ेगी। चलो, मैं तुम्हें अपने भाई के साथ कर दूँ, वह तुम्हें जहाँ कहोगी, पहुँचा देगा।'

"तुम्हें बचाने के लिये मैं उसके साथ हो ली। वास्तव में तुम मेरे किए हुए अपराध का दंड क्यों भोगो। दासी मेरा गहने का डब्बा भी अपने साथ ले आई थी। उसने विदा होते हुए मुझे देकर कहा—'लो, यह तुम्हारे गहने का डब्बा है, इसमें तुम्हारे रोज़ के पहनने के गहने हैं, मैं चुराकर तुम्हें देने के लिये ले आई हूँ।'

"मैंने वह डब्बा अपने कपड़े के भीतर छिपा लिया।

"मुझे बाद में मालूम हुआ, वह भी मेरी सासजी की एक चाल थी। इस बहाने से मुझे निकालकर अपने पुत्र को एक दूसरी नर-हत्या के अपराध से बचा लिया। मैं इसके लिये सदैव ऋणी रहूँगी। उनकी कृपा से ही तुम्हारा मुँह देखने को मिला। इस भलाई के बदले उनका अत्याचार मुझे आशीर्वाद हुआ।

"मैं लखनऊ आकर अपनी मौसेरी बहन के यहाँ ठहरी। मेरे बहनोई मुंशी शिवसहायसिंह भी एक देवोपम आदमी हैं। उन्होंने मुझे आश्रय दिया। उन्हें बड़े-बड़े वकीलों ने लड़ने की सलाह दी, और उन्होंने मेरे पास वे प्रस्ताव रक्खे, लेकिन मैंने तुम्हारे पिता से लड़ना उचित न समझा। क्या मैं कभी उनके ख़िलाफ़ हो सकती थी? परंतु तुम्हारा अधिकार तो तुम्हें दिलाना ही होगा। मैंने इसका पूरा प्रबंध किया। तुम्हारे पैदा होते ही मैजिस्ट्रेट का सार्टिफ़िकेट लिया, जो तुम्हें इसके साथ नत्थी मिलेगा, और गहने

बेचकर इंपीरियल बैंक में जमा कर दिया है। दो गहने तुम्हारी वधू के लिये बचा रक्खे हैं, जो दस हज़ार से कम न होंगे। तुम्हारे भरण-पोषण और शिक्षा का प्रबंध तो मेरे बहनोई करेंगे, लेकिन २५) की सहायता तुम्हें बैंक से हर महीने मिलती रहेगी। तुम ग़रीब माता के पुत्र हो, इसलिये तुम्हें कुछ ग़रीबी का मज़ा मिल जाय, ताकि तुम राजा होकर अपनी ग़रीब प्रजा का दुःख समझ सको।

"मैं तो मरती हूँ, और अपने पतिदेव की याद करते-करते मरती हूँ। तुम भी अपने पिता को क्षमा करना। तुम्हारे पिता का कोई अपराध नहीं है, यह तो दैव की माया है। मेरे पूर्व जन्म का पाप उदय हुआ, और उसके साथ तुम्हें भी दंड मिला। मेरे लाल, तुम मुझे क्षमा करना। और क्या लिखूँ, तुम्हारी रक्षा भगवान् और मेरा सतीत्व करेगा। यदि मैं सती हूँ, तो तुम्हें अवश्य अपने पिता का राज्य मिलेगा। भगवान् तुम्हारी रक्षा करे। यही आशीर्वाद है अभागिनी मा के पास, और क्या है ?

तुम्हारी मा
सरोजिनीदेवी
रानी राजनगर-राज्य"

मनमोहन ने सिर उठाकर देखा, राजा महेंद्रकुमार रो रहे थे। उनके चरणों की पद-धूलि सिर पर चढ़ाते हुए कहा—"पिताजी, मैं ग़रीब मा का बेटा हूँ, ग़रीब ही रहूँगा। मैं मा की आज्ञा पालन नहीं कर सकता। मा, तुम जहाँ हो, क्षमा करना।"

राजा महेंद्रकुमार ने घबराकर मनमोहन को अपने बाहु-पाश में बद्ध करते हुए कहा—"यह क्या कहते हो, बेटा। हाँ, मैं अप-राधी अवश्य हूँ, लेकिन तुम्हारी मा के जाने के बाद मैंने अपना ऐहिक सुख त्यागकर जो तपस्या की है, वह तुमसे छिपी नहीं।

मैंने दूसरा विवाह नहीं किया, और दर्शनशास्त्र के चक्कर में अपने को फँसा रक्खा है। इसी एकांत तपस्या के प्रभाव से ही तुम मुझे प्राप्त हुए हो, क्या सती के शब्द निष्फल जा सकते हैं। तुम्हारी मा सती थी। सती के वाक्य मिथ्या नहीं होते। तुम्हें राजनगर का राज्य स्वीकार करना पड़ेगा, नहीं तो तुम्हें पितृ-हत्या का अपराध लगेगा। मेरी सरोजिनी की यह स्मृति मैं खो नहीं सकता।"

पिता-पुत्र दोनो आबद्ध होकर सरोजिनी की स्मृति को खारे जल के छींटों से जगाने का प्रयत्न करने लगे। भाग्यदेव अपनी मुस्कान से मनमोहन की ओर देखने लगे, और सरोजिनी का चित्र वह दृश्य देखकर मुस्किराने लगा।

न-मालूम क्यों ?

(१)

कलकत्ते की वेश्याओं के संबंध में रमाकांत बहुत कुछ सुन चुके थे, और जब वह अनायास एक दिन कलकत्ते आ गए, तो उनके देखने तथा उनके संबंध में स्वयं अनुभव करने का लोभ संवरण न कर सके। कश्मीर-हिंदू-होटल में वह ठहरे थे, जहाँ से वेश्याओं का मुहल्ला बहुत समीप था। वह रोज़ शाम को अकेले निकलते, किंतु सोनागाछी के पास पहुँचते-पहुँचते उनकी अंतरात्मा काँपने लगती। वह कुछ दूर जाकर या कभी-कभी मोड़ पर से ही घूम पड़ते। उस नारकीय जीवन को अध्ययन करने का साहस उन्हें न होता था। उन्हें ऐसा मालूम होता कि उनके वहाँ जाने से कोई भयानक कांड उपस्थित होगा।

एक दिन वह उसी प्रकार असफल होकर लौट रहे थे कि थोड़ी दूर पर उनके नगर के एक मित्र मिल गए। रमाकांत उन्हें देखकर कुछ सकपकाए, और चाहा कि बचाकर निकल जायँ, लेकिन मदन-मोहन ने उन्हें देख लिया, और मुस्किराते हुए कहा—"अरे, तुम यहाँ! भाई, ख़ूब मिले! वाह, इसमें झेंपने की कौन बात है। यह ठीक है कि तुम हमारे शहर के एक माननीय नेता हो, समाज-सुधारक हो, किंतु मुझे यह भली भाँति मालूम है कि तुम भी एक मनुष्य हो। मानवोचित दुर्बलताएँ न होना मनुष्य को या तो पशु बनाता है, या देवता। चूँकि हम देवता बन नहीं सकते, इसलिये हमें मनुष्य ही रहना अधिक उचित मालूम होता है।"

यह कहते हुए वह ज़ोर से हँस पड़े, और उन्हें सस्नेह अपने हृदय से लगा लिया।

रमाकांत ने मुस्किराने की चेष्टा करते हुए कहा—"यह ठीक है, परंतु मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मुझमें इतना साहस नहीं कि मैं इन गलियों के अंदर प्रवेश करूँ। रोज़ यहाँ तक घूमने आता हूँ, परंतु इस नरकपुरी के द्वार से ही वापस लौट जाता हूँ। मेरे मन में यह इच्छा कई बार जाग्रत् हुई कि समाज से परित्यक्त इन निराश्रयों की दशा निरीक्षण करूँ, परंतु भाई, साफ़ तो यह है कि मेरी हिम्मत नहीं पड़ती।"

मदनमोहन ने सप्रेम उनका हाथ दबाते हुए कहा—"कोई चिंता की बात नहीं। पहलेपहल सब कोई शरमाता है। एक मर्तबा जाने से भीरुता दूर हो जाती है। ख़ैर, चलो, मैं आज तुम्हें ले चलूँ।"

यह कहते हुए उन्होंने रमाकांत का हाथ पकड़ा, और सोना-गाछी की गलियों में ले जाने लगे। रमाकांत की आत्मा बड़े वेग से सिहरकर काँपने लगी, किंतु मदनमोहन के हाथों की गर्मी उन्हें धैर्य बँधाने लगी।

(२)

मदनमोहन ने एक ज़ीने पर चढ़ते हुए कहा—"अभी तक तो तुमने बहिरंग रूप देखा, अब चलकर अंतरंग दृश्य देखो।"

रमाकांत ने अपना हाथ छुड़ाते हुए कहा—"भाई, मुझे माफ़ करो, मैं बहुत देख चुका। अब मैं वापस जाऊँगा।"

मदनमोहन ने उन्हें घसीटते हुए कहा—"यह क्या! बिचकने कैसे लगे। ऐसा क्या कभी हो सकता है? यदि केवल साहित्यिक भाव से ही उनका अध्ययन करना चाहते हो, तो तुम्हें उनका घरेलू जीवन भी देखना अत्यावश्यक है।"

रमाकांत की आत्मा काँपने लगी। किसी अज्ञात आशंका से वह सचमुच थरथराने लगे।

उनकी कमज़ोरी को लक्ष्य करते हुए मदनमोहन ने कहा—"वाह, तुम पुरुष होकर एक स्त्री—वेश्या—के दरवाज़े पर काँपते हो? डूब मरने की बात है!"

मदनमोहन ने उन्हें अधिक सोचने का मौक़ा नहीं दिया, वह उन्हें ठेलकर ज़ीने के ऊपर चढ़ाने लगे। रमाकांत ने कातर और कुछ विह्वल दृष्टि से उनकी ओर देखा, और उनकी प्रतिरोध शक्ति निरुपाय तथा हताश होकर पुरुषत्व के अभिमान की ओर देखने लगी। उनकी आत्मा ने धीमे, करुण स्वर में पूछा—"क्या यही पुरुषत्व है?"

मदनमोहन ने उन्हें तीसरे खंड के एक बंद द्वार के पास खड़ा करते हुए कहा—"हिम्मत न हारो, तुमसे ज़्यादा तो यहाँ की स्त्रियों में साहस है।"

रमाकांत की आत्मा ने मौन भाषा में उत्तर दिया—"ठीक है, क्योंकि शैतान उनका सहायक है।" किंतु प्रकट रूप में कुछ कहने के लिये जैसे उद्यत हुए, वैसे ही अवरुद्ध द्वार खुल गया, और भीतर के तेज़ प्रकाश ने सामने खड़ी एक अनुपम सुंदरी के सौंदर्य से द्विगुणित होकर उन्हें स्तब्ध कर दिया। उनका विरोधी भाव दुम दबाकर आत्मा की शरण में त्राहि-त्राहि पुकारने लगा।

सुंदरी ने उन दोनों को नत-मस्तक हो अभिवादन किया।

मदनमोहन ने उन्हें भीतर ले जाते हुए कहा—"आज मैं अपने एक मित्र का परिचय कराना चाहता हूँ। आशा है, आप उनकी अभ्यर्थना मुझसे कहीं अधिक करेंगी, और उन्हें किसी प्रकार असंतुष्ट न करेंगी।"

यह कहते हुए उन्होंने संकेत-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखा। सुंदरी को समझने में कुछ देर न लगी कि रमाकांत एक रँगरूट है।

सुंदरी का नाम प्रमीला था। उसने रमाकांत का हाथ पकड़ते हुए कहा—"आइए, आज मेरा परम सौभाग्य है कि आपके दर्शन हुए, और मेरी कुटीर पवित्र हो गई।"

रमाकांत के समस्त शरीर से एक तड़ित्प्रवाह निकलकर उन्हें व्याकुल करने लगा। उन्होंने अपना हाथ धीरे से छुड़ा लिया, या प्रमीला ने स्वयं छोड़ दिया, इसका निर्णय वह स्वयं न कर सके।

सबके बैठ जाने पर मदनमोहन ने कहा—"यह भी मेरे शहर—काशी—के रहनेवाले हैं, और लोहे के व्यापारी हैं। किसी ज़रूरी काम से यहाँ आए हैं। आज घुमाते-घुमाते मैं इन्हें यहाँ ले आया हूँ।"

रमाकांत ने आश्चर्य के साथ मदनमोहन की ओर देखा, क्योंकि न तो वह और न मदनमोहन खुद काशी के रहनेवाले थे, और न वह लोहे के व्यापारी थे। वह तो एक साधारण स्थिति के ज़मींदार थे। बड़े दिन की छुट्टियों में, रियायती टिकट से लाभ उठाकर कलकत्ता देखने आए थे। हाँ, उन्हें साहित्य और देश से कुछ प्रेम अवश्य था, जिससे प्रेरित होकर वह दोनो दिशाओं में कुछ-न-कुछ उद्योग करते रहते थे। मदनमोहन ने उनका हाथ दबाते हुए चुप रहने का संकेत किया। वह मन मसोसकर रह गए। उसी समय उनके हृदय में किसी ने पुकारकर कहा—"शैतानपुरी में प्रवेश करने का पहला मंत्र है—अपनी असलियत छिपाना और झूठ बोलना!"

(३)

मदनमोहन ने यह बिलकुल सत्य कहा था कि हिचकिचाहट केवल प्रथम प्रयास में हुआ करती है। और, जब कभी रमाकांत सोचते, तो उनका हृदय सचमुच धक् से रह जाता, और कोई कहता कि पतन तो आस्तीन का साँप है, न-मालूम कब काट खाय।

रमाकांत की तबियत कुछ ऐसी लगी कि वह नित्यप्रति प्रमीला के यहाँ जाने लगे। मदनमोहन के साथ-साथ कुछ दिन आना-जाना लगा रहा, और फिर जब वह अपने घर—कानपुर—लौट गए, तो भी रमाकांत उसके यहाँ जाते रहे। मदनमोहन एक खिलाड़ी आदमी थे, जीवन को वह एक खेल समझते थे, और एक चतुर खिलाड़ी की भाँति ही अपने जीवन की घटनाओं से खेला करते थे। किसी वस्तु-विशेष से वह अपना दिल लगाकर उलझा लेनेवाले व्यक्तियों में न थे। उन्होंने जाते हुए कहा—"पंडितजी, अब आप खुलकर प्रमीला से खेलें, लेकिन इतना मैं कह देना चाहता हूँ कि कहीं उसकी धारा में अपने को न बहा दें, क्योंकि पुरुषत्व का सबसे कमज़ोर कोना है भावुकता। कनिष्ठ संसार में भावुकता का कोई स्थान नहीं। वह केवल कवियों और साहित्यिकों की बपौती है, हम-जैसे खिलाड़ियों का उसमें कोई भाग नहीं। आप एक अच्छे साहित्यिक हैं, मुझे भय है, कहीं भावुकता आपको डुबा न दे।"

रमाकांत मुस्किराए, और थोड़ी देर बाद कहा—"मेरे पतन का मार्ग तो तुमने प्रशस्त किया है! ख़ैर, मैं इस संबंध में कुछ न कहूँगा। कानपुर आकर इसका प्रतिशोध लूँगा। अब रहा भावुकता के बारे में, सो मैं ज़रूर भावुक हूँ, और यही भावुकता मुझे प्रमीला की ओर घसीटती है। मैं उससे प्रेम करता हूँ, किसी कुभावना के वश न होकर, बल्कि मेरा प्रेम शुद्ध-सात्त्विक है, जैसा भाई का भगिनी के प्रति होता है। मैं नहीं जानता, ऐसा क्यों होता है। परंतु जहाँ मैं उसे देखता हूँ, वहाँ मेरे मन में कोई कहता है कि इस दुखिया के इस बहिरंग जीवन के आवरण में कोई सहृदय गुम-सुम होकर बैठा है, जिसका उद्धार करना मेरा कर्तव्य है।"

मदनमोहन ने ज़ोर से हँसते हुए कहा—"भाई, इसी का नाम भावुकता है। अगर इन फ़िज़ूल विचारों में उलझ जाओगे, तो याद

रखना, तुम्हारा उद्धार कोई नहीं कर सकता। तुम अपने को डुबा दोगे, और पथ के भिखारी होकर लौटोगे। मैं समझता हूँ, तुम मेरे साथ कानपुर वापस चलो, तो अधिक अच्छा होगा।"

रमाकांत ने हँसते हुए कहा—"मैं इतना भोलानाथ नहीं हूँ। सांसारिक व्यवहार मैं अच्छी तरह जानता हूँ।"

मदनमोहन ने तीव्र कटाक्ष करते हुए कहा—"बेशक! अगर सांसारिक व्यवहार में पटु न होते, तो क्या अपने विवाह के पहले अपनी भावी पत्नी को एक मामूली हैसियत के मोटर-ड्राइवर के साथ भाग जाने देते!"

मदनमोहन के व्यंग्य ने रमाकांत के मर्मस्थल में आघात किया। सत्य की व्यंजना व्यंग्य की कटुता है। क्षण-मात्र में उनके स्मृति-पटल पर वह घटना ताज़ी हो गई, जिसने उनके जीवन की शांति नष्ट कर दी थी। आज से दस साल पहले उनका विवाह दिल्ली में, पंडित राधेलाल की पुत्री से, तय हुआ था, और तिलक आदि विवाह के पूर्व की समस्त प्रथाएँ पूर्ण होकर विवाह का दिन भी निश्चित हो गया था। किंतु बरात जाने के पहले एक दिन उनके यहाँ यह समाचार आया कि उनकी भावी वधू अपने स्कूल के मोटर-ड्राइवर के साथ भाग गई है। इससे वह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने आजन्म विवाह न करने की प्रतिज्ञा की, और स्त्री-जाति के घोर शत्रु हो गए। समय के साथ-साथ वह शत्रुता का भाव कम होने लगा, किंतु वह स्त्री-जाति को कभी क्षमा न कर सके। अब उसी स्त्री-जाति का अध्ययन करने के लिये आकुल होकर कलकत्ते आए थे।

रमाकांत का मुख निष्प्रभ होकर विवर्ण हो गया।

मदनमोहन को अपनी ग़लती मालूम पड़ी, उन्होंने विनय-पूर्ण स्वर में कहा—"भाई, मुझे क्षमा करो। मैं मुँहफट आदमी हूँ, धोखे से निकल गया।"

रमाकांत ने अपने बिखरे भावों को एकत्र करते हुए कहा—"नहीं मित्र, तुम्हारा कथन सत्य है। पर विवाह संपन्न होने के बाद अगर मेरी स्त्री भागती, तो मैं उसके लिये उत्तरदायी होता, किंतु यह घटना तो पहले ही घट गई, जिसका प्रतिकार मैं कभी नहीं कर सकता। हाँ, फिर भी मेरे शरमाने के लिये काफ़ी है।"

यह कहकर उन्होंने दुःख के साथ अपना मुख फिरा लिया। वेदना की टीस ने किसी क़दर उच्छृंखल मदनमोहन के हृदय पर भी आघात किया।

मदनमोहन ने कुंठित होकर कहा—"अच्छा मित्र, मैं अब जाऊँगा, क्योंकि गाड़ी छूटने का समय हो गया। मैं जानता हूँ, तुम अभी तक वह घटना भूल नहीं सके हो, और शायद न भूल सकोगे, इसीलिये तुम अविवाहित हो।"

रमाकांत ने कोई उत्तर नहीं दिया। मदनमोहन ने भी अधिक छेड़ना मुनासिब नहीं समझा, और चुपचाप कमरे के बाहर हो गए। रमाकांत कमरे से खिड़की के बाहर कोलाहल देखकर अपने हृदय के प्रश्न का उत्तर खोजने लगे। वह प्रश्न था—वह क्या कभी मिलेगी? काश इस जीवन में एक बार तो मिलती—"केवल एक क्षण के लिये, और कह देती कि मैं इसलिये उस मोटर-ड्राइवर के साथ भाग गई थी!"

उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास ली, और कलरव उनका उपहास करने लगा।

(४)

उस दिन शाम को प्रमीला ने शंकित स्वर में पूछा—"क्यों रमेश बाबू, आज इतने उदास क्यों हो?"

प्रमीला रमाकांत को रमेशचंद्र के नाम से जानती थी, क्योंकि मदनमोहन ने यही नाम उसे बताया था।

रमाकांत ने मुस्किराने की चेष्टा करते हुए कहा—"नहीं, मैं उदास तो नहीं हूँ। मदनमोहन के न होने से आज कुछ उदासी छाई है।"

प्रमीला ने चकित होकर पूछा—"मदनमोहन बाबू कौन हैं ?"

रमाकांत को अब अपनी भूल जान पड़ी। मदनमोहन का नाम प्रमीला के समाज में ब्रजेंद्रनाथ था। उन्होंने अपनी ग़लती सुधारते हुए कहा—"मेरे एक मित्र हैं, जो अभी तक मेरे साथ रहते थे, आज ही वह भी ब्रजेंद्र बाबू के साथ कानपुर....नहीं....काशी चले गए हैं।"

इसके बाद कमरे में फिर निस्तब्धता छा गई। उससे ऊबकर प्रमीला ने कहा—"कोई बात क्यों नहीं करते। मुझे गुम-सुम बैठना अच्छा नहीं लगता। अच्छा, कुछ पियो, तब स्फूर्ति आ जायगी, और यह भयभीत करनेवाला सन्नाटा अपने आप भाग जायगा।"

यह कहकर बात-की-बात में वह सोडा और ह्विस्की की बोतल और दो गिलास ले आई। रमाकांत ने कहा—"मैं तो पीता नहीं, आप ही पीजिए।"

प्रमीला ने उनके समीप बैठकर खिसकते हुए कहा—"यह कैसे हो सकता है। आपको तो अवश्य पीना पड़ेगा। पीना कोई गुनाह नहीं।"

यह कहते हुए उसने सोडा मिलाया, और एक मोहन कटाक्ष से वह गिलास उठाकर उनके अधरों के समीप ले गई।

रमाकांत की अंतरात्मा ने बहुत ज़ोर मारा, मगर उत्तप्त यौवन के भयंकर वेग ने उनकी प्रतिरोध-शक्ति को क्षीण कर दिया। वह इनकार न कर सके, और दो-तीन घूँट पी गए। एक तप्त शलाका उनका हृदय जलाने लगी।

प्रमीला कुछ मुस्किराई, और फिर उसी प्याले से वह भी पीने लगी। उसने उसे ख़ाली कर दिया। दूसरा प्याला भरते हुए उसने

कहा—"यह अमृत है, सारी चिंताओं को नाश करने में रामबाण है। लीजिए, पीजिए।"

रमाकांत आपत्ति न कर सके, और इस बार वह पूरा प्याला पी गए। प्रमीला मुस्किराई, और फिर अँगड़ाई। उसकी आँखों से विजय झाँकने लगी। उसने दूसरा प्याला भरकर खुद पिया। रमाकांत के शरीर में जोश का हलका ज्वार सिर की ओर चढ़ने लगा, जिसमें गुदगुदी थी, मिठास थी, और हिजाब तथा आशंका नष्ट करने की कशिश थी।

प्रमीला ने आगे बढ़कर कहा—"रमेश बाबू, मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।"

'प्यार' शब्द ने रमाकांत के चाबुक मारा। वह होश में आए, और एक भयानक दृष्टि से उसकी ओर देखा, फिर ज़ोर से हँस पड़े। उनके हास्य का व्यंग्य प्रमीला को चिढ़ाने लगा।

प्रमीला ने शंकित दृष्टि से देखते हुए कहा—"तुम्हें विश्वास नहीं होता?"

रमाकांत ने भर्राए हुए स्वर में कहा—"क्यों नहीं होता। स्त्री-जाति का विश्वास न करूँगा, तो फिर किसका करूँगा। और, जब वह स्त्री वेश्या है, तो मैं आँख बंद कर विश्वास करूँगा।"

प्रमीला के नेत्र लाल हो गए। उसका नारीत्व जाग्रत् हो गया। उसने आँखें फाड़कर उनकी ओर देखते हुए कहा—"वेश्या की भी मर्यादा है। लेकिन नारी-जाति को वेश्या-जैसा घृणित बनानेवाले तो तुम्हारे ही-जैसे पुरुष हैं। मैं जन्म से वेश्या नहीं हूँ। केवल पेट की ज्वाला शांत करने के लिये नहीं, बल्कि तुम्हारे-जैसों के तिरस्कार से बचने के लिये, और तुम्हें भी अपना-जैसा घृणित, रुग्ण, पापी, शैतान बनाने के लिये, अथवा अपना प्रतिशोध लेने के लिये वेश्या हुई हूँ। तुम समझते हो, मैं घृण्य हूँ, कोढ़ से भी अधिक घृण्य हूँ,

किंतु मैं समझती हूँ, तुम लोग कोढ़ के कीड़े हो, और हमारे कोढ़ के मैल को भोजन के समान खाकर जीवित रहते हो।" कहते-कहते उसके नथुने फूलने लगे, और विषमय दृष्टि से वह उनकी ओर देखने लगी।

रमाकांत स्तब्ध होकर उसकी ओर देखने लगे। उन्होंने धीमे स्वर में कहा—"अच्छा, अगर तुम जन्म से वेश्या नहीं हो, तो तुम कौन हो ?"

प्रमीला ने आवेश के साथ कहा—"मैं कौन हूँ। मैं एक भद्र कुल की ब्राह्मण-संतान हूँ। मेरे पिता एक प्रतिष्ठित वकील थे, जिन्होंने अपने बाहुबल से बहुत रुपया कमाया था। वह पाश्चात्य विचारों को सम्मान की दृष्टि से देखते थे, और उसका अनुकरण अंधे होकर कर रहे थे। उन्होंने मुझे पढ़ने के लिये स्कूल भेजना शुरू किया, जहाँ के स्वतंत्र वायु-मंडल ने मेरे दिमाग़ में बुरी आज़ादी के विषमय कीटाणु भर दिए। नतीजा यह हुआ कि मैं ख़ूब आज़ादी से अपना जीवन आमोद-प्रमोद में व्यतीत करने लगी। मेरी शिक्षिकाएँ, जिनमें अधिकांश अविवाहित थीं, मेरा सौंदर्य देखकर ललचाने लगीं, और उन्होंने मुझे ऐसी शिक्षा देनी आरंभ की, जिससे मुझे विवाह से और उसके जीवन से घृणा हो गई। उन्होंने मुझे धीरे-धीरे अपने अंतरंग-केलि-गृह में प्रवेश किया, और मेरे द्वारा हज़ारों रुपया पैदा किया, जिसका कुछ अंश मुझे भी देती थीं। मैं तितली की तरह फुदक-फुदककर नए-नए फूलों का रस लेने लगी। अंत में जब मेरे पिता को कुछ-कुछ आभास मिला, तो उन्होंने मेरा विवाह करना चाहा। मा के मर जाने से मैं बिलकुल आज़ाद हो चुकी थी, और भाई-भौजाई की बिलकुल परवा न करती थी। मैंने एक दिन साफ़-साफ़ कह दिया कि मैं विवाह नहीं करूँगी। इसे सुनकर मेरे पिता स्तंभित रह गए, और उन्होंने बड़े वेग से विवाह की तैयारियाँ शुरू

कर दीं। इन्हीं दिनों मेरा प्रेम एक सुंदर जवान से हो गया था। जब कोई उपाय न देखा, तो घर से दस-पंद्रह हज़ार की पूँजी लेकर उसी के साथ निकल पड़ी। पहले वह मेरा ग़ुलाम होकर रहने की क़सम खा चुका था। लेकिन उसका और मेरा मन ऊबते देर न लगी। हम दोनो अलग हो गए, और तब से यह जीवन व्यतीत कर रही हूँ।"

रमाकांत ने भर्राए हुए कंठ से कहा—"तुम्हारे पिता का क्या नाम था ?"

प्रमीला ने दूसरा गिलास ख़ाली करते हुए कहा—"पंडित राधेलाल। हम लोग दिल्ली के रहनेवाले थे, और मैं अपने स्कूल के मोटर ड्राइवर के साथ भाग आई थी।"

रमाकांत विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखने लगे। उनकी आँखों से कौतूहल और वर्षों की वेदना सशरीर निकलकर प्रमीला को निगल जाने के लिये छटपटा रही थी।

प्रमीला तीसरा गिलास ख़ाली करते हुए हँसी, और फिर उसने कहा—"मेरे पति का भी नाम सुनोगे ? अच्छा, कहती हूँ, सुनो, उनका नाम था पंडित रमाकांत, और वह कानपुर के रहनेवाले एक शिक्षित युवक थे। उसी वर्ष उन्होंने एम्० ए० पास किया था। अख़बारों में मैंने उनका नाम देखा था—नहीं, खोजा था, क्योंकि उस घटना के बाद ही मैं उन्हें प्यार करने लगी—न-मालूम क्यों ?"

यह कहकर वह बड़े वेग से हँसी। रमाकांत के मुख से भी निकल पड़ा—"न-मालूम क्यों ?"

वह भी दूसरे क्षण प्रमीला के स्वर से भी भयंकर स्वर में हँस पड़े। अदृष्ट के हास्य की व्यंग्यमयी कर्कशता ने भी अपनी भीषण प्रतिध्वनि में कहा—"न-मालूम क्यों ?"

सुहागरात

(१)

सन् १९३२ के मधु-मास की पूर्णिमा का साज सूया की आँखों को बड़ा मनोरम जान पड़ा। चाँदनी का वह निष्कपट नृत्य उसकी आशाओं को सिंधु की भाँति उद्वेलित करने लगा। वह नील सिंधु के रजतमय तट पर बैठ गई। सामने आकाश से परिहास करता हुआ, पीत चंद्रमा से कुछ-कुछ मिलता हुआ पीत समुद्र था, और उसके उस पार थी उसके प्रियतम आरातकी की जन्म-भूमि—जापान।

आरातकी ने उसका स्कंध छू दिया। सूया चौंक पड़ी। आरातकी हँस पड़ा, और सूया के नेत्र डबडबा आए। स्त्री-जाति की कोमलता फूट-फूटकर आँखों के मार्ग से बाहर निकलने लगी। आरातकी ने सूया को अपने प्रशस्त हृदय के सहारे लिटा लिया, और वह आश्रय पाकर उसके शरीर से चिपट गई। सूया को वह लघु—अति लघु क्षण कितना सुखकर प्रतीत हुआ! उसकी अनंत प्रेम-तपस्या का वह तुच्छ प्रसाद था, जिसकी स्मृति को उसने अपने हृदय में कंजूस के स्वर्ण की भाँति छिपा लिया।

आरातकी ने उसके आलुलायित केश-दाम सँवारते हुए कहा—"इतनी अधीरता क्यों है?"

सूया तड़प उठी। उसने भौंहें संकुचित करते हुए कहा—"अधीरता का प्रश्न! यह तो तुम्हीं अपने मन से पूछो।"

आरातकी संकुचित हो गया। उसने थोड़ी देर बाद कहा—"एक सैनिक की प्रेयसी को इतनी अधीरता शोभा नहीं देती।"

सूया उठकर बैठ गई। उसने तीव्र स्वर में कहा—"सैनिक की प्रेयसी का हृदय सैनिक नहीं, वह तो प्रेम के अमर भावों का समूह-मात्र है।"

आरातकी चुप होकर अपने कल के प्रयाण की कल्पना करने लगा। उसने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"मैं इस्तीफ़ा देकर चला आऊँगा। जापान का सम्राट् हमारे प्रेम के बीच खड़ा नहीं हो सकता। यह फ़ौजी पोशाक, जो निंद्य ग़ुलामी की द्योतक है, सम्राट् की सेना के अध्यक्ष को सौंप दूँगा। उस अवधि तक तुम धैर्य रक्खो।"

सूया खिलखिलाकर हँस पड़ी। आरातकी हैरानी से उसके मुख की ओर देखने लगा। आरातकी ने करुण स्वर में पूछा—"क्या विश्वास नहीं होता?"

सूया ने हँसते हुए कहा—"यह भी भला कोई बात है। हँसी आती है तुम्हारी बुद्धि पर, तुम्हारी मूर्खता पर।"

आरातकी अप्रतिभ होकर सूया की ओर देखने लगा। सूया ने व्याख्या करते हुए कहा—"जापान का सम्राट् हमारे प्रेम के बीच चाहे खड़ा न हो सके, परंतु मेरी मातृभूमि के लिये तो वह इस समय शत्रु है। वह तुम्हें ग़ुलाम न बनाकर मुझे तुम्हारा ग़ुलाम बनाना चाहता है, जिसे मैं सहन नहीं कर सकती।"

आरातकी लज्जित-सा होकर पृथ्वी को चूमती हुई लहरों की ओर देखने लगा।

सूया कहने लगी—"यह आदि काल से अनंत नील आकाश, यह युगों को अपने उदर में रखनेवाला नील रत्नाकर, सदा हास्य-मयी प्रकृति, सब स्वतंत्र हैं, किंतु मानव? वह कितना स्वार्थमय है। एक की वस्तु बल से अपहरण कर, उसका अधिकार छीनकर अपने को इनका स्वामी समझता है। मैं चीनी बालिका, चीन की

भूमि की स्वामिनी हूँ, लेकिन मेरा पड़ोसी जापान आततायी होकर मेरा सुख-सौभाग्य नष्ट करने पर तुला हुआ है, और तुम उसी आततायी के एक प्रवर्तक सैनिक हो। मैंने तुम्हें अपने जीवन का स्वामी बनाया, और वह मधुर, स्निग्ध बंधन उफ़ ! आज कितना भयंकर मालूम होता है। तुम कल अपनी फ़ौज के साथ आकर हमारा नाश करोगे, और मैं तुम्हारा स्वागत करूँगी ! नहीं, यह असंभव है। जाओ, मैं अपने मन की भावनाओं पर विजय प्राप्त करूँगी, और तुमसे घृणा करूँगी।" कहती हुई सूया उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों से ज्वाला निकल रही थी—उसका शरीर काँप रहा था।

आरातकी ने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा—"यह परिवर्तन कैसा ? मैं फ़ौज से अपना नाम कटा दूँगा, और हम-तुम दोनो किसी दूर—अत्यंत दूर प्रदेश में चलकर अपना जीवन सुख से व्यतीत करेंगे।"

सूया ने अपना हाथ छुड़ाते हुए कहा—"जब हमारी बहनों और भाइयों पर तुम्हारे देशवासी अत्याचार करते हुए उनके हृदय का रक्त पान करेंगे। क्यों, वह हमारे जीवन का कैसा सुखमय काल होगा ? हमारी सुहागरात हमारे भाइयों के हाड़-मांस के रक्त से अनुरंजित शय्या पर होगी ? हमारी प्रेम-कहानी अनाथों के चीत्कार की ताल पर गाई जायगी ! क्यों ?"

सूया का व्यंग्य हँसने लगा। आरातकी बेबसी के साथ उसकी ओर देखने लगा।

(२)

आरातकी ने अपने अधिनायक के पास इस्तीफ़ा पेश करते हुए कहा—"मैं अब नौकरी नहीं करना चाहता।"

अधिनायक ने विस्फारित नेत्रों से देखते हुए कहा—"यह क्यों ? इस अवसर पर तुम्हारा इस्तीफ़ा मंज़ूर नहीं किया जा सकता।

कल हमारी सेना चीन-विजय के लिये यात्रा करेगी, और तुम आज अपना इस्तीफ़ा पेश करते हो। क्या तुम भीरु हो?"

आरातकी ने सिर नत किए हुए कहा—"मैं चीन के साथ युद्ध नहीं कर सकता।"

अधिनायक ने तीव्र स्वर में कहा—"इन शब्दों के लिये तुम्हें दंड दिया जा सकता है। जानते हो, जापानी सेना के नियम कितने कठोर हैं?"

आरातकी ने दृढ़ता से कहा—"मैं दंड की कठोरता सहन करने के लिये तैयार हूँ, किंतु चीन के विरुद्ध हथियार उठाने के लिये नहीं।"

अधिनायक सहन नहीं कर सका। उसने सक्रोध अपने जंगी बूटों का प्रहार किया। आरातकी के पैरों से रक्त निकलने लगा।

अधिनायक ने तड़पकर कहा—"मैं तुम्हें बंदी करता हूँ। तुम्हारा फ़ौजी अदालत में चालान कर देश-द्रोह का मुक़द्दमा चलाया जायगा, जिसका दंड मृत्यु है।"

आरातकी ने अपने को चुपचाप समर्पण कर दिया। उसकी आँखों के सामने उस दिन रात्रि की सूया की व्यंग्यमयी वाणी का दृश्य आ गया। उसके मन का दुःख गलकर बह गया। उसने नीरव भगवान् से प्रार्थना की। हृदय की कातरता आनंद में परिणत होने लगी।

आरातकी के इस्तीफ़ा देने की बात क्षण-भर में तमाम फ़ौज में फैल गई। सैनिक उत्सुकता से आकर उसे देखने लगे—जैसे कभी देखा न हो। उनके सामने वह सिर झुकाए अपनी क़ैद की कोठरी में बैठा विचार-मग्न-सा था। वह उनके वाक्-प्रहारों को सहन करता हुआ अपनी दशा का सिंहावलोकन कर रहा था।

दूसरे दिन कोर्ट-मार्शल में उसका चालान हुआ। क्षण-मात्र में न्याय का वह प्रहसन समाप्त हो गया, और फ़ौजी अफ़सर ने यह

फ़ैसला दिया कि आरातकी को धावे में सेना की अग्रिम पंक्ति में रक्खा जाय, अगर वह भागने का प्रयत्न करे, तो गोली से उड़ा दिया जाय। यह विचित्र फ़ैसला सुनकर आरातकी निराशा से अपनी गर्दन झुकाकर विधाता के विधान की आलोचना करने लगा।

(२)

निरीह चीनी जनता पर जापान का अत्याचार एक बड़ी दर्दनाक कहानी है, जिसका ओर-छोर मिलना कठिन है। मानचूरिया-प्रदेश कुछ ही दिनों में अधिकृत हो गया, और चीन की भूमि पर जापानी निरंकुश होकर अपना रौद्र नृत्य करने लगे। आरातकी के जीवन ने भी पलटा खाया, और वह भी अपने इतर भाइयों-जैसा हो गया। उसकी कोमलता का वह अंश, जो सूया के प्रभाव से जागरित हुआ था, समय तथा कुसंग के प्रभाव से पहले कुम्हलाया, और फिर निर्जीव होकर सूख गया। उसकी पाशविक प्रवृत्ति ने विजय पाई, और आज वह उस घटना को स्मरण कर अपनी शर्म छिपाने के प्रयास में म्लान हँसी हँस देता है। सूया की स्मृति, केवल एक क्षीण रेखा की भाँति, उसके मानस-पटल पर अवशेष थी। वह आज विजय से उन्मत्त जापान का अग्रणी सेनानी था। संक्षेप में वह अपनी सैनिक टुकड़ी का कैप्टेन था।

ऊपर की घटना हुए पाँच वर्ष बीत चुके। इतने दिनों में उसने अपनी सूया का कोई समाचार नहीं पाया। पीकिंग-नगर छोड़कर वह कहाँ लापता हो गई थी, यह किसी को नहीं मालूम था। आरातकी जितना ही उसका पता लगाने में असफल होता, उतना ही वह क्रोधित होकर चीनी जनता पर अत्याचार करता। जब वह चीनी रमणियों को अपनी पाशविकता और बर्बरता का परिचय देता, तब अनायास सूया के वे शब्द उसके हृदय में खनखना उठते—
"हमारी सुहागरात हमारे भाइयों के हाड़-मांस के रक्त से अनुरंजित

शय्या पर होगी !" उन्हें भुलाने के लिये वह खीझकर द्विगुणित रोष से अपनी स्मृति को खून से प्रक्षालन करने का प्रयत्न करता।

१७ जून की संध्या को जापानी ना सियांग-नगर में अपनी विजय-पताका फहराने के लिये अग्रसर हो रही थी। नगर पहले से ही बम के गोलों से भूमिसात् कर दिया गया था। नगरवासी भाग गए थे, और जो भागने में असमर्थ थे, वे घरों में निरुपाय होकर उस घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे, जब वे जापानी सैनिकों की बर्बरता का शिकार होंगे। यह भी उनकी वीरता का द्योतक था।

इस जापानी सेना का नायक आरातकी था, जो अदम्य उत्साह से विजय-मदिरा से ओत-प्रोत आशाओं का स्वर्ण-जाल गूँथ रहा था। इन दिनों उसका नाम निरंकुश अत्याचार के लिये पर्याय-वाची हो गया था। रमणियाँ उसके नामसे सिहर उठतीं, और चीनी जनता भय से शंकित होकर अपने जीवन से निराश हो जाती।

आरातकी ने देखा, नगर शून्य है। एक भयंकर निस्तब्धता छाई हुई है, जो श्मशान से भी अधिक भीति-जनक है। वह प्रसन्न होकर अपनी कीर्ति के भार से स्वयं दबने लगा। उसके सिपाही शिकारी कुत्तों की भाँति अपने-अपने शिकार की खोज में बिखर गए। थोड़ी देर में उन निरीह व्यक्तियों के अस्फुट क्रंदन से सियांग-नगर गुंजरित होने का उपक्रम करने लगा। किंतु दूसरे ही क्षण जापानी सैनिकों का रोष-पूर्ण रव उसे अपने उदर में छिपाने का सफल प्रयत्न करने लगा।

आरातकी कुछ सैनिकों के साथ एक उच्च अट्टालिका की ओर अग्रसर हुआ। उसके द्वार बंद थे। उसने उन लकड़ी के दरवाज़ों पर पद-प्रहार करते हुए तीव्र स्वर में अपना नाम लेकर खोलने का आदेश दिया।

उसके नाम ने वही प्रभाव प्रदर्शित किया, जो अली बाबा की

कहानी में 'खुल जा सुमसुम' करता था। द्वार खुल गया, लेकिन मार्ग रोके हुए सैनिक-वेष में एक रमणी खड़ी थी।

आरातकी ने वज्र-कठोर स्वर में आदेश दिया—"मार्ग छोड़ दो, और अपने अस्त्र हमें दो।"

रमणी ने मुस्किराकर व्यंग्य-पूर्ण स्वर में कहा—"कौन, आरातकी, मुझे निःशस्त्र करना चाहता है!" यह कहकर वह वेग से हँस पड़ी।

आरातकी सहसा उस वीर रमणी की ओर देखने लगा। रमणी ने हँसते हुए कहा—"आरातकी, क्या तुमने कभी क्षण-भर के लिये सोचा है कि तुमने कितना अत्याचार किया है? क्या तुम अपनी बर्बरता की कहानी स्वयं कह सकने में समर्थ हो? क्या तुम बता सकते हो कि कितने बच्चों को तुमने उनकी मा के स्तनों से दूध पीते हुए छुड़ाकर पहले उन बच्चों के रक्त से अपनी तलवार की प्यास बुझाई, और फिर उनकी माताओं को अपनी सभ्यता का परिचय दिया, और फिर—फिर उन्हें इस संसार की पीड़ा से, कमज़ोर होने के अभिशाप से मुक्त कर दिया। यह तुमने अपनी काली करतूतों से प्रमाणित कर दिया है कि इस संसार में निर्वीर्य और निःशक्त होकर जीवन व्यतीत करने का अधिकार नहीं। इस कठोर सत्य को सिद्ध कर तुमने संसार के समक्ष एक अनुपम आदर्श रक्खा है।"

आरातकी क्षुब्ध हो चुका था। उसने अपने सैनिकों को आदेश दिया—"इस बकवादिन को जीवित पृथ्वी में दफ़ना दो, और इसके पहले इसका अच्छी तरह मान-मर्दन........"

आरातकी अपना आदेश पूर्ण भी न कर पाया था कि रमणी ने पिस्तौल तानते हुए हँसकर कहा—"आरातकी, यह शक्ति तेरे सैनिकों में नहीं। तूने क्या अभी तक मुझे नहीं पहचाना?"

आरातकी की स्मृति विद्युत्-प्रकाश की भाँति आलोकित होकर

अपनी वर्षों की बिछुड़ी सूया को पहचानने का प्रयत्न करने लगी। उसके मुख की श्री अंतर्हित हो गई। उसने पीछे हटते हुए कहा—"कौन, सूया! इस वेष में!"

सूया ने हँसते हुए कहा—"ख़ैर, तुमने पहचाना तो! शुक्र है! हाँ, मैं सूया हूँ, और आज तुम्हारे पापों का प्रतिफल देने को, अपनी जाति का प्रतिशोध लेने को आई हूँ। यह मेरे पिता का घर है, जो पीकिंग से भागकर तुमसे बचने के लिये यहाँ आए। लेकिन तुम यहाँ भी पहुँच गए। स्वागत है!"

जापानी सैनिक सवेग अग्रसर हुए।

सूया की पिस्तौल का घोड़ा दबा। एक के बाद एक चार सैनिक धराशायी हो गए। आरातकी भी सँभलकर आगे बढ़ा, और सूया की पिस्तौल छीनकर फेंक दी। सूया ने सिंहनी की भाँति उछलकर आरातकी के वक्षःस्थल पर कटार का प्रहार किया। दूसरे क्षण आरातकी भूमि पर गिर पड़ा।

सूया वेग से हँसी। उसके हास्य की प्रतिध्वनि ने आरातकी के गमनोन्मुख प्राणों को क्षण-भर के लिये स्तंभित कर दिया।

सूया ने कहा—"आरातकी, आज हमारी सुहागरात है। इस कालरात्रि में आओ, हम दोनो एक मन-प्राण होकर इन असंख्य नर-नारियों के कंकाल पर अपनी प्रणय-लीला करें।"

दूसरे ही क्षण उसकी कटार सवेग उसके हृदय के समीप घुस गई, और वह आरातकी के वक्ष पर गिर पड़ी।

प्रेम-देवता उनकी सुहागरात को चिर-स्थायी करने का आयोजन करने लगे, और धीरे-धीरे तमिस्रा अपनी काली चादर से उन्हें छिपाकर चीन की रमणियों के क्रंदन को शांत करने में लीन हो गई।

इस्तीफ़ा

(१)

गगनभेदी स्वर, स्वतंत्रता के नशे से मतवाली देवियों के कल-कंठ से निकलकर, मुर्दा जीवन में जोश फूकने लगा। हालाँकि मैं सरकारी नौकर था, और जिस तरह नया मुसलमान प्याज़ खाने में अपना गौरव समझता है, मैं भी असहाय जनता को पामाल करना ही अपना कर्तव्य समझता था; इसीलिये मेरा नाम सरकारी अफ़सरों के मुँह पर रहता था। जनता जिसे निरंकुश कहती है, उसी को सरकार नमकहलाल कहकर सम्मान देती है।

उस मनोहर गीत ने मेरे दिल में एक नया भाव पैदा किया। मैं मुग्ध होकर उस छोटी-सी नारी-सेना की नायिका की ओर देखने लगा। यौवन का उफान दूध के उफान से भी ज़्यादा तेज़ होता है। लेकिन जैसे वह पानी के ठंडे छींटों से शांत हो जाता है, वैसे ही मेरा मन अपने आप उस शांत मूर्ति को देखकर विकार-रहित हो गया। मैं चकित होकर उसकी ओर एकटक निहारने लगा।

वह एक तरुण-यौवना थी, जिसका विकास क्रमशः शुक्ल पक्ष के चंद्रमा की भाँति वृद्धि पर था। उसके आयत लोचन-युगल लाज की ज़ंजीरों से बँधे अवश्य थे, किंतु उनके बाहर साहस और तेज उमड़े पड़ते थे, जो शत्रुओं को परास्त कर उनके दिलों पर अपना रोब ग़ालिब करते थे। वह अपने हाथ में राष्ट्रीय झंडा लिए हुए थी, और वह हवा में फहराकर, रास्ता साफ़ करने के लिये, अपनी विचित्र भाषा में हम लोगों को आदेश दे रहा था।

मैं स्वभाव से कमज़ोर दिल का नहीं हूँ, बल्कि दूसरों की कमज़ोरियों पर हँसनेवाला हूँ। न-मालूम क्यों मेरे मन में एक अद्भुत कमज़ोरी पैदा होने लगी, और साहस तथा उद्दंडता इस्तीफ़ा पेश करने लगे। इस कमज़ोरी को छिपाने के लिये मैं अपने सहकारी नूरख़ाँ की ओर देखने लगा, जो मेरी तरह अपनी बर्बरता के लिये जनता में प्रसिद्ध था, जैसे बीमारियों में प्लेग।

नूरख़ाँ ने मुस्किराकर धीमे स्वर में कहा—"साहब, माल तो करारा है। कहिए, क्या मंशा है?"

मैं चुप रहा। मेरे मन में नूरख़ाँ के प्रति कुछ घृणा उत्पन्न हुई, क्योंकि बिल्ली को ख़्वाब में कुछ छीछड़े ही नज़र आते हैं। पशुत्व-पंक-निमज्जित हृदय में सद्भाव उत्पन्न होना ज़रा मुश्किल है। मेरे मन में नवयौवना के प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न होती थी, और ज्यों-ज्यों मैं उसकी ओर देखता था, वे भाव उत्तरोत्तर बढ़ते जाते थे। मुझे नूरख़ाँ का कहना बहुत बुरा मालूम हुआ।

नूरख़ाँ ने मेरे मौन का दूसरा अर्थ निकाला। उन्होंने मेरे पास आकर बहुत धीमे स्वर में कहा—" 'पटाख़ा' एक नंबर का है! आप जानते हैं, यह कौन है? आपको कैसे मालूम होगा, अभी-अभी तो आपका तबादला ही हुआ है। जनाब यह वह चीज़ है, जिसके लिये लखनऊ के बड़े-बड़े नवाब और रईस हज़ारों क्या लाखों रुपए ख़र्च करने के लिये तैयार थे—नहीं, बल्कि हैं; मगर यह 'चिड़िया' फँसती नहीं। सबको अँगूठी दिखा-दिखाकर हँसती है।"

हालाँकि नूरख़ाँ की बातचीत का ढंग निहायत भद्दा था, मगर उसने मेरे मन में एक उत्सुकता पैदा कर दी, जो किसी का परिचय जानने के लिये होती है। मैंने घृणा का भाव दबाकर उत्साहित करनेवाली मुस्कान से कहा—"तुमने तारीफ़ तो इतनी की, लेकिन मुझे इसकी असलियत अभी तक मालूम नहीं हुई!"

नूरख़ाँ के मन में यह ख़याल हुआ कि शायद मैं भी उस जाल में फँस गया हूँ, जिसमें दूसरे रईस फँसे हुए हैं। उसने मेरी ओर मुस्किराते हुए कहा—"नख़ास की मुश्तरी को क्या आप नहीं पहचानते, जिसकी कोठी शहर की नामी इमारतों में है। लोग कहते हैं, यह उसकी लड़की है, लेकिन मैंने आज तक इस बात पर न कभी यक़ीन किया है, और न करूँगा। मुश्तरी कुछ दिनों तक राजा साहब मुर्शिदाबाद के पास रही, जिससे वह मालामाल हो गई, और राजा साहब बरबाद होकर दाने-दाने को मुहताज हो गए। बात यह है कि राजा साहब मुर्शिदाबाद अक्सर दिल्ली में रहा करते थे, और मुश्तरी भी उनके साथ रहती थी। जब उसने राजा साहब को छोड़ दिया, तो वह कुछ दिनों के लिये सहारनपुर में जाकर आबाद हो गई, और जब लौटी, तो उसकी गोद में यह लड़की मौजूद थी। मैंने इसकी तफ़तीश की है, और उससे यही मालूम होता है कि ज़ोहरा इसकी लड़की नहीं है, फिर ख़ुदा जाने।" यह कहकर नूरख़ाँ अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरने लगे।

मैंने मुस्किराकर कहा—"आपने क्यों तफ़तीश की?"

नूरख़ाँ ने अपनी आँखें नचाते हुए कहा—"अजी जनाबवाला, मैं भी कभी जवान था, मेरे दिल में भी उमंगें थीं। साफ़-साफ़ क्यों न कह दूँ, अजी, मैं मुश्तरी के पुराने आशिक़ों में था।"

मैंने हँसकर कहा—"थे कि हैं?"

मियाँ नूरख़ाँ ने उस रमणी अथवा ज़ोहरा की ओर देखते हुए कहा—"अजी जनाब, 'गया शबाब की हमराह वलवला दिल का।' अब क्या है, अब तो मैं उजड़ा हुआ दायर हूँ।"

मियाँ नूरख़ाँ ने इस लहज़े से कहा कि मुझे हँसी आ गई। मेरी हँसी के शब्द ने ज़ोहरा को चौंका दिया, और वह हमारी ओर भीत हरिणी की भाँति देखने लगी।

मैंने पूछा—"ज़ोहरा को मुल्क-परस्ती का सुरूर कब से चढ़ा ?"

नूरख़ाँ ने जवाब दिया—"यह सब अँगरेज़ी तालीम का क़ुसूर है। जनाब, ज़ोहरा ने इसी साल एम्० ए० पास किया है, और अब आजकल गांधी की भक्ति का नशा सवार है। इस वक़्त कांग्रेस की डिक्टेटर हैं।"

मैं चुप होकर सोचने लगा।

मियाँ नूरख़ाँ ने आगे बढ़कर हुक्म दिया—"ज़ोहरा, इस नाजायज़ मजमा को बिखेर दो, वरना तुम्हारी मा का लिहाज़ मुझे भूल जाना होगा, और तुम्हें गिरफ़्तार कर हवालात में रखना पड़ेगा।"

ज़ोहरा ने बड़े ही मीठे स्वर में कहा—"ख़ाँ साहब, आप अपना फ़र्ज़ अदा करें, और मैं अपना। मैं 'अम्मा' की दुहाई नहीं देती, जो आप उनके लिहाज़ का स्मरण करा रहे हैं।"

नूरख़ाँ चुप होकर मेरी ओर देखने लगा।

कर्तव्य और मोह मेरे हृदय-स्थल में युद्ध करने लगे। जिसे करने के लिये मन कभी तैयार नहीं होता, वह भी ग़ुलामी के कारण करना पड़ता है। मैंने आगे बढ़कर कहा—"देवी, मैं आपको हुक्म देता हूँ कि आप अपने मकान वापस जायँ, और इस नाजायज़ मजमा को बिखेर दें।"

ज़ोहरा ने मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखा, और कहा—"आपका शरीर इसी देश के अन्न, जल और वायु से बना है। आप तो अभी नौजवान हैं, ख़ून अभी ठंडा नहीं हुआ है। क्या आपके ख़ून में, अपने देश की ग़ुलामी देखकर, जोश नहीं उठता ? अफ़सोस है कि आज़ादी की लड़ाई से आप-जैसे नौजवान दूर हैं ! ख़ैर, अगर दूर ही होते, तो कोई बात न थी, आप तो उस पाक जज़्बात को नष्ट करने के लिये आमादा हैं; किसलिये, थोड़े-से रुपयों के लिये,

जिन्हें अँगरेज़ सरकार आपको देती है। क्या आप सूखे टुकड़े खाकर आज़ादी की लड़ाई नहीं लड़ सकते ?"

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। मन-ही-मन उसकी पुरअसर बातों पर विचार करने लगा। इसी समय पुलिस-सुपरिंटेंडेंट और दूसरे अफ़सर वहाँ आ गए, जिन्होंने आते ही मजमा को जबरन बिखेरने का हुक्म दिया। पुलिस के डंडे अपना खेल खेलने लगे। वह एक पाशविक दृश्य था। मैं वह दृश्य नहीं देख सका, और अपने नेत्र बंद कर लिए।

(२)

ज़माना रंग बदलता है, और ज़माने के साथ आदमी भी बदल जाता है। मनुष्य-जीवन की कोई-कोई घटना उसका काया-पलट करनेवाली होती है। ज़ोहरा के शब्दों ने मेरे हृदय में एक नई आग लगा दी थी। हालाँकि मजमा बिखेर दिया गया था, और पाशविक बल विजयी हुआ था, किंतु वह अपना असर मेरे दिल पर छोड़ गया था। मैं अपने साथ अशांति का बखेड़ा लिए हुए घर आया।

मेरी पत्नी राधा ने मेरे चेहरे को देखकर पूछा—"आज क्या बात है, बहुत परेशान दिखाई देते हो ?"

मैंने कोट उतारकर बैठते हुए कहा—"परेशान क्या, अब नौकरी नहीं करूँगा।"

राधा ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखते हुए कहा—"नौकरी नहीं करोगे, तो खाओगे क्या ?"

मैंने खिन्न होकर कहा—"क्या दुनिया नौकरी करके ही खाती है ? सूखे टुकड़ों से क्या पेट नहीं भर सकता। पेट का सवाल कोई ऐसा सवाल नहीं, जिससे गुलामी की ज़ंजीरें बाँधना ज़रूरी हो।"

राधा आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगी।

मैंने कुछ देर बाद कहा—"अब मैं भी कांग्रेस में शामिल होकर देश की आज़ादी के लिये लड़ूँगा। आज मेरे मन को बड़ी सख़्त चोट पहुँची है।"

राधा ने भय-विह्वल कंठ से कहा—"आख़िर हुआ क्या, बतलाओ तो ?"

मैंने खिन्न स्वर से कहा—"हुआ क्या, कुछ नहीं। अब नौकरी नहीं करूँगा।"

राधा ने शांत स्वर में कहा—"यह तो सुन लिया, नौकरी नहीं करोगे, लेकिन क्यों नहीं करोगे ?"

मैंने सक्रोध कहा—"क्या तुम्हें हरएक बात का जवाब देना पड़ेगा ? मेरी इच्छा, मैं नौकरी नहीं करता।"

राधा ने दूसरी कुर्सी पर बैठते हुए कहा—"अगर ऐसी ही इच्छा है, तो नौकरी मत करो। अभी अकेले हो, इसलिये ऐसा कहते हो, लेकिन अगर अम्मा या बाबूजी ज़िंदा होते, तो मैं इस 'इच्छा' का जवाब पूछती। अगर 'विद्या' को बदमाश चुरा न ले गए होते, तो आज उसकी शादी की फ़िक्र सिर पर होती, तब देखती कि तुम कैसे नौकरी से इस्तीफ़ा देते।"

विद्या मेरी बहन का नाम था, जो मुझसे कई वर्ष छोटी थी, और जो अचानक एक दिन घर के बाहरी बरामदे से, खेलते-खेलते ग़ायब हो गई थी। हम लोग उस वक़्त सहारनपुर में थे। मेरे पिताजी उन दिनों वहीं तहसीलदार थे। हम लोगों ने विद्या का पता लगाने की बहुत कोशिश की, लेकिन सब बेकार गई। उसका कोई सुराग़ न चला। हारकर हम लोगों को चुपचाप बैठना पड़ा। विद्या के प्रति मेरा इतना प्रेम था, जितना माता-पिता का संतान के प्रति होता है। विद्या के खोने से जितना कष्ट मुझे हुआ था, उतना शायद ही किसी को हुआ हो। मेरे माता-पिता मेरे जीवन

से निराश हो गए थे, लेकिन किसी तरह, समय के साथ, वह घाव भर गया, किंतु अब भी, उसकी स्मृति हो आने से, दिल में एक प्रकार की अद्भुत धड़कन उत्पन्न होती थी।

वही आज हुआ। विद्या के नाम ने मेरे हवाई क़िलों में आग लगा दी। मैं चुप होकर कुछ सोचने लगा।

राधा ने मेरी हालत देखकर कहा—"विद्या के नाम में न-मालूम क्या बात है, जो तुम पर जादू का असर करती है।"

मैंने उत्तर दिया—"सच पूछो, तो आज विद्या की याद ने ही मुझे नौकरी छोड़ने के लिये उत्तेजित किया है।"

राधा ने आश्चर्य के साथ कहा—"यह क्या बात है? तुम्हारी आदत पहेलियों में बात करने की है, जिससे मेरी समझ में कुछ नहीं आता।"

मैंने मुस्किराकर कहा—"बात यह है कि मैंने आज एक रमणी को देखा है, जो देखने में बिलकुल विद्या-जैसी मालूम होती है। मुझे ठीक याद पड़ता है कि अगर विद्या आज ज़िंदा होती, तो ठीक उसी की तरह होती। वही चेहरा, वही गढ़न, वही आँखें, वही नाक, वही मुँह, वही दाहने गाल पर लहसुन का श्यामता चिह्न, सब कुछ वही था। मैंने ऐसा सादृश्य आज तक नहीं देखा। मेरे मन में बार-बार यह विचार उठता है कि विद्या ने सशरीर अवतार लिया है।"

राधा ने मुस्किराकर कहा—"वजह अब मालूम हुई। नौकरी से इस्तीफ़ा देकर उस सुंदरी के पीछे अलख जगाना चाहते हो, और छिपाने के लिये ननँदजी की ओट लेते हो। मुझे बहलाने का अच्छा बहाना निकाला है।"

राधा की आँखों से शैतानी बाहर झाँकने लगी।

मैंने बड़ी गंभीरता से कहा—"नहीं, यह बात नहीं है। तुम व्यर्थ का इलज़ाम लगाती हो। उसके प्रति मेरे मन में वे ही विचार

हैं, जो विद्या के प्रति हैं, और कभी-कभी मेरा मन कहता है कि हो न हो, यही विद्या है। यह मन की भावना है, जिसका आधार क्या है, यह नहीं मालूम।"

राधा ने मुस्कान-सहित कहा—"मैं सब जानती हूँ। आज ब्याह कर नई नहीं आई, जो तुम्हें पहचानती न होऊँ। लेकिन नौकरी से इस्तीफ़ा देने की कौन ज़रूरत है, अगर ऐसा ही मन है, तो उससे विवाह कर लो, मैं कोई रुकावट नहीं डालूँगी।"

मैंने उसे विश्वास दिलाते हुए कहा—"तुम मानतीं नहीं, मैं तुमसे सच कहता हूँ कि उसके प्रति मेरे पवित्र विचार हैं। नौकरी तो मैं यों ही छोड़ना चाहता हूँ। देश की आवाज़ आज मेरे कानों में गई। सोता हुआ आज जागा हूँ। कर्तव्य मुझे समर के मैदान में अवतीर्ण होने के लिये पुकार रहा है। ग़रीबों का आर्तनाद क्या तुम्हारे कानों को नहीं सुनाई देता?"

राधा गंभीरता से कुछ सोचने लगी।

थोड़ी देर बाद कहा—"क्या तुम सत्य ही आंदोलन में शामिल होना चाहते हो?"

मैंने उत्तर दिया—"हाँ, इरादा तो ऐसा ही है। अगर शामिल न भी होऊँ, तो कम-से-कम आंदोलन के दबाने का अस्त्र नहीं होना चाहता। जब मैं निःशस्त्र जनता पर डंडे चलते हुए देखता हूँ, तो मेरा मन एक प्रकार के दुख से ओत-प्रोत हो जाता है। अपनी असहाय दशा देखकर ख़ुद मुझे अपने ऊपर घृणा उत्पन्न होती है। कभी-कभी यह ख़याल दिल में उठता है कि मुल्क की आज़ादी को मैं अपने पेट के लिये दबा रहा हूँ, मुझ-सा नराधम और कौन होगा। आज जो दृश्य मैंने देखा है, वह बड़ा करुणा-जनक था। उसकी याद से इस समय भी मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अब यह ग़ुलामी का तौक़ गले से निकालकर फेंक दूँगा।"

राधा ने दृढ़ स्वर में कहा—"ठीक है, अगर तुम्हारी ऐसी इच्छा है, तो ख़ुशी से देश की स्वतंत्रता के लिये लड़ो। तुम जहाँ होगे, वहीं मेरा भी स्थान है। आज़ादी के लिये लड़ना ईश्वरीय धर्म है। अगर ऐसा ही इरादा है, तो कल ही इस्तीफ़ा पेश कर दो।"

यह कहकर वह कमरे के बाहर हो गई। मैं अपना भविष्य सोचने लगा।

(२)

जब तक उमंग रहती है, तब तक भावों में स्थिरता रहती है। और, जैसे नशा उतरने के बाद ख़ुमारी आती है, वैसे ही समय के साथ उमंग कम होकर विचारों को डाँवाडोल करती है। मैंने नौकरी से इस्तीफ़ा देने का इरादा तो कर लिया था, लेकिन वह इरादा मेरा विचार-मात्र रहा।

राधा दूसरे दिन मुझे देखकर मुस्किराई। मैं शीघ्रता से अपनी कमज़ोरी छिपाने के लिये घर के बाहर हो गया।

मैं आज पैदल ही दफ़्तर जा रहा था। मेरे हृदय में भयानक उथल-पुथल मची थी। संसार का कलरव मेरे लिये मूक और निःशब्द था। मैं अपने विचारों में मग्न चला जा रहा था। सहसा किसी ने बड़े ही कोमल स्वर में कहा—"सुपरिंटेंडेंट साहब, आदाब-अर्ज़।"

मैंने चौंककर देखा, मेरे सामने ज़ोहरा खड़ी मुस्किरा रही थी।

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"आदाब-अर्ज़ नहीं, वंदे मातरम्।"

ज़ोहरा ने संकुचित होकर कहा—"बेशक, ग़लती हुई।"

यह कहकर वह हँसने लगी।

मैंने पूछा—"देवी, आप कहाँ विराजती हैं?"

ज़ोहरा ने हाथ से इशारा करते हुए कहा—"यहाँ से थोड़ी दूर। इशरत-मंज़िल तो शायद आप जानते होंगे, वहीं मेरा ग़रीबख़ाना है। आइए, थोड़ी देर के लिये पधारिए।"

मेरी यही इच्छा थी। मैं उसके साथ हो लिया।

ज़ोहरा का कमरा बिलकुल अप-टू-डेट था। कमरे की सजावट ठेठ स्वदेशी, बहुमूल्य वस्तुओं से की गई थी, जिनसे उसकी देश-भक्ति का पता चलता था।

ज़ोहरा ने मुझे एक आराम-कुर्सी की ओर बैठने का संकेत करते हुए कहा—"तशरीफ़ रखिए।"

ज़ोहरा की दृष्टि में एक सहज लज्जा थी, जो मुझे बात करने से संकुचित करती थी। वह भी चुप थी, और मैं भी चुपचाप बैठा हुआ उसकी किताबों की अलमारी की ओर देख रहा था।

इसी समय पद-ध्वनि सुनकर, ज़ोहरा ने सिर घुमाकर द्वार की ओर देखा, और वहाँ अपनी मा (मुश्तरी) को देखकर कहा—"आइए अम्मा, आज सुपरिंटेंडेंट साहब तशरीफ़ लाए हैं।"

वेश्या और पुलिस में चोली-दामन का साथ है। मुश्तरी के चेहरे पर प्रसन्नता छा गई।

उसने बड़े तपाक से आगे बढ़कर कहा—"ज़हे क़िस्मत, ख़ुदा की शान देखो, आज ग़रीबों के ऊपर ख़ुदा मेहरबान तो हुआ। मैं तो सुनती थी कि सुपरिंटेंडेंट साहब बड़े ही सख़्त-मिज़ाज और संगदिल हैं, लेकिन मेरा वह ख़याल ग़लत निकला, इसकी मुझे बड़ी ख़ुशी है। फ़रमाइए जनाब, मैं किस तरह आपकी ख़ातिर करूँ।"

मैंने कुछ संकुचित होकर कहा—"आपकी मेहरबानी है। मैं आपसे यह कहने के लिये आया हूँ कि आप ज़ोहरा को इस आंदोलन में क्यों शरीक होने देती हैं?"

मुश्तरी ने एक कुर्सी पर बैठते हुए कहा—"ज़ोहरा के आगे मैं बिलकुल लाचार हूँ। यह शुरू से मनमानी करती है। इसे अँगरेज़ी तालीम देकर मैंने बिलकुल बरबाद कर दिया। ख़ैर, मेरा पेशा

तो गया ही, इसका मुझे सोच नहीं; लेकिन इस आंदोलन में शरीक होने से जेल जाने की नौबत आ सकती है। मैंने इसे बहुत समझाया, मगर इसका कुछ असर नहीं होता। अगर आप समझा-बुझाकर इसे रास्ते पर ले आवें, तो आपकी तहेदिल से मशकूर होऊँगी।

ज़ोहरा ने मुस्किराकर कहा—"ग़ुलाम रहकर मरना भी पाप है, आज़ादी के लिये मरना ही मानवधर्म का सबसे उत्कृष्ट पुण्य है। जेल जाने से आत्मा पवित्र होती है, जीवन का विकास आरंभ होता है। मैं तो कल सुपरिंटेंडेंट साहब को भी इस लड़ाई में शामिल होने के लिये निमंत्रण दे चुकी हूँ। आत्मिक भीरुता से चाहे भले ही इस लड़ाई से दूर रहें, लेकिन इसमें इनका कल्याण नहीं है।"

ज़ोहरा का जोश देखकर मेरी कल की प्रतिज्ञा की स्मृति सजग हो गई।

मुश्तरी ने मलिन हँसी के साथ कहा—"अभी मुफ़्त में खाने, पहनने और ख़र्च करने को मिलता है, तब ऐसी बात है, अगर पेट के लिये कमाना पड़ता, तो मालूम होता; तब यह विचार ढूँढ़ने से भी न मिलते।"

मैं भी कुछ मुस्किरा दिया।

ज़ोहरा उत्तेजित हो गई। उसने तेज़ी के साथ कहा—"मैं पेट के लिये अपनी आज़ादी नहीं बेच सकती। यह सवाल ऐसा नहीं, जो हल न हो सके। अगर तुम्हें यह ख़याल है कि मैं तुम्हारे कमाए हुए धन पर गर्व करती हूँ, और इसलिये आंदोलन में शामिल हुई हूँ, तो मैं आज ही इसका त्याग करती हूँ। पेट के लिये दो मुट्ठी अन्न कमा लेना कुछ मुश्किल नहीं।"

ज़ोहरा का क्रोध देखकर मुश्तरी हँस पड़ी। मैं भी मुस्किरा दिया।

ज़ोहरा अधिक उत्तेजित होकर उठ खड़ी हुई।

मुश्तरी ने मुस्कान-सहित कहा—"कहाँ जाने का इरादा है?"

ज़ोहरा ने उत्तेजित स्वर में कहा—"अपने पेट की फ़िक्र में।"

मुश्तरी हँस पड़ी, मैं भी हँस पड़ा।

मुश्तरी ने कहा—"देखा सुपरिंटेंडेंट साहब, पेट का सवाल सबसे पहले है या नहीं। घर छोड़ने के पहले ही पेट की फ़िक्र पड़ी। मेरी प्यारी ज़ोहरा, मैं तुझसे हाथ जोड़कर कहती हूँ कि इस ज़िद को छोड़ दे। यह तो सुपरिंटेंडेंट साहब की मेहरबानी है, जो ख़ुद तकलीफ़ उठाकर मुझे और तुम्हें सचेत करने आए हैं, ऐसे ख़ैर-ख़्वाह मिलना बहुत मुश्किल है।"

मुश्तरी कह रही थी, और ज़ोहरा क्रोध से कमरे के बाहर हो गई। मुश्तरी ने उसके जाने पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया। उसने मुझसे कहा—"आपसे एक दरख़्वास्त है, जनाबआली!"

मैंने जवाब दिया—"कहिए।"

मुश्तरी ने आर्द्र स्वर से कहा—"इस नासमझ का आप ख़याल रखिएगा। यह मैं आपको यक़ीन दिलाती हूँ कि ज़ोहरा बिलकुल नासमझ है, और बड़ी ज़िद्दिन है। जैसे भी हो, इसकी रक्षा कीजिएगा। आप सब कुछ कर सकते हैं........।"

कहते-कहते मुश्तरी की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी, और कंठ रुद्ध हो गया।

मैंने उठते हुए कहा—"आप घबराइए नहीं, मैं जहाँ तक मुमकिन है, मदद करूँगा।"

यह कहकर मैं कमरे से बाहर हो गया। बाहर निकलते ही मेरे मन ने प्रश्न किया—"इस ममत्व में असलियत कितनी है?"

मन इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने लगा।

(४)

दूसरे ही दिन यह सुनने में आया कि ज़ोहरा गिरफ़्तार हो गई। मैं यह सुनकर कुछ उत्तेजित हो गया, क्यों? यह मुझे न मालूम हुआ। मेरे मन में कुछ ऐसी घृणा ब्रिटिश राज्य के प्रति उत्पन्न हुई कि मैंने उस आवेश में अपना इस्तीफ़ा लिख डाला, और यह इरादा कर लिया कि मैं राष्ट्रीय सेना में भरती होकर जेल की हवा खाऊँ। किंतु वह विचार कार्य में परिणत नहीं हुआ। इस्तीफ़ा वैसा ही लिखा रह गया।

ज़ोहरा के मुक़द्दमे में कुछ देर न लगी। मैजिस्ट्रेट ने उसे ३ महीने की सादी क़ैद का हुक्म दिया, और 'बी' क्लास में रक्खे जाने की सिफ़ारिश की।

जिस व़क्त ज़ोहरा क़ैदख़ाने की मोटर में बैठकर जा रही थी, उस व़क्त उससे मेरा साक्षात् हुआ। उसने मेरी ओर देखा, और मुस्किराकर कहा—"जनाब सुपरिंटेंडेंट साहब, आप अम्मा से कह दीजिएगा कि ज़ोहरा ने अपने पेट की फ़िक्र कर ली।" यह कहकर वह मुस्किराई, और दूसरे ही क्षण आँखों से ओझल हो गई। मैं सोचता हुआ घर आया।

कई दिन बीत गए। मैं यंत्र-चालित पुतले की भाँति अपना कर्तव्य पूरा अवश्य करता, लेकिन मेरा सारा उत्साह नष्ट-सा हो गया था। हृदय-आंगण में सदैव युद्ध हुआ करता था। ग़ुलामी और आज़ादी के अविराम द्वंद्व ने मुझे भीरु और कापुरुष बना दिया था। मैं अपनी नज़रों में स्वयं अपराधी था। राधा मेरी दशा देखकर सब कुछ समझ रही थी। उसने स्वयं कई बार नौकरी छोड़ देने को कहा, लेकिन मेरा साहस न होता था।

रात्रि के नौ बज चुके थे। मैं भोजन करने बैठा ही था कि नौकर

ने आकर कहा—"हुज़ूर, मुश्तरी तवायफ़ के यहाँ से एक आदमी आया है, जो कुछ अर्ज़ करना चाहता है।"

राधा ने भ्रू कुंचित करके कहा—"बैठने को बोलो ; कह दो, साहब अभी खाना खा रहे हैं।"

मैंने उठते हुए कहा—"अभी खाना तो शुरू नहीं किया है, देख आऊँ, कौन है।"

यह कहकर मैं वेग से बाहर आया।

मुश्तरी के नौकर ने आगे आकर कहा—"हुज़ूर को बेमौक़े तकलीफ़ देने के लिये माफ़ी चाहता हूँ। बड़ी बी साहबा की तबियत कई दिनों से ख़राब है, लेकिन आज कुछ ज़्यादा ख़राब है। आपको अभी बुला लाने के लिये कहा है, और मेरे चलने के वक़्त मुझे बुलाकर यह कहा—"अगर वह न आवें, तो उनसे कह देना कि ज़ोहरा के लिये मेहरबानी करके आवें। फिर जैसी मरज़ी हो।"

मैंने कपड़े पहनते हुए नौकर को मोटर लाने का आदेश दिया।

राधा मेरे पीछे-पीछे आकर कमरे के बाहर खड़ी होकर सब सुन रही थी। उसने उत्तेजित स्वर में कहा—"थाली परोसी रक्खी है, और आप मोटर मँगाते हैं! लाट साहब का कोई हुक्म नहीं आया है।"

मैंने कपड़े पहनते हुए कहा—"अभी आता हूँ। यह जीवन-मरण का प्रश्न है। मुश्तरी की हालत ख़राब है। देखूँ ज़रा, क्यों बुलाया है।"

इसी समय मोटर बँगले के पोर्टिको में आकर खड़ी हो गई।

राधा ने सक्रोध कहा—"मुश्तरी नहीं, तुम्हारी ज़ोहरा ने बुलाया है। मैं सब जानती हूँ। मैं चुप हूँ, इसलिये तुम मनमानी करते जाते हो।"

मैंने शांत स्वर में कहा—"तुम्हें अविश्वास करने की कोई ज़रूरत

नहीं है, और यह यक़ीन रक्खो कि मैं कभी तुम्हें ऐसा अवसर नहीं दूँगा कि तुम मुझ पर अविश्वास कर सको। जब कोई मनुष्य अपने अंतिम समय में स्मरण करता है, तब सब काम छोड़कर जाना उचित है। एक दिन भोजन न करने से कोई विशेष हानि नहीं है, लेकिन मुश्तरी के मर जाने से जन्म-भर की चिंता है। तुम भोजन करो, मैं अभी वापस आता हूँ।"

राधा सक्रोध कमरे के बाहर चली गई, और मैं चिंतित मन से मोटर पर आकर बैठ गया। मोटर सवेग निर्दिष्ट स्थान की ओर चल दी।

(४)

मुश्तरी ने मेरी ओर देखकर बैठने का संकेत किया, और अन्य लोगों को बाहर जाने का आदेश दिया। मैं उसके पास कुर्सी खींचकर बैठ गया।

उसने धीमे स्वर में कहा—"जनाब, आज मेरे सफ़र का दिन है। थोड़े ही अरसे के बाद, अपने गुनाहों का जवाब देने के लिये, चली जाऊँगी। मुझे अफ़सोस है कि मेरे इस आख़िरी वक़्त में ज़ोहरा नहीं है। उस दिन वह रूठकर घर से गई थी, फिर वापस नहीं आई। अगर मैं जानती कि वह मेरी बात इस तरह पकड़ लेगी, तो हरगिज़ वे बातें ज़बान पर न लाती। मैं ज़रूर उससे मुहब्बत करती हूँ, लेकिन उसकी मुहब्बत मेरे लिये बिलकुल नहीं है।"

मुश्तरी चुप होकर मेरी ओर ग़ौर से देखने लगी।

मैंने आश्वासन देते हुए कहा—"नहीं, यह ख़याल तुम्हारा ग़लत है, ज़ोहरा की मुहब्बत तुम्हारे लिये वैसी ही है, जैसी तुम्हारी उसके लिये।"

मुश्तरी ने मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए कहा—"मुझे तो नहीं मालूम होता, लेकिन चाहे जो कुछ हो, मैं उसे दिलोजान से

प्यार करती हूँ। सुपरिंटेंडेंट साहब, ज़ोहरा की मुहब्बत अगर मेरे लिये नहीं है, तो मैं इसका मुतलक़ बुरा नहीं मानती। ख़ुदा इंसाफ़ करता है। मैंने जब किसी का दिल जलाया है, तो कब मुमकिन है कि मैं सुख पाऊँ।"

मुश्तरी चुप हो गई।

मैंने कौतूहल-पूर्ण स्वर में पूछा—"मैं आपका मतलब नहीं समझा।"

मुश्तरी ने थोड़ी देर बाद कहा—"मैंने यही सब कहने के लिये आपको तक़लीफ़ दी है। मेरे मन में यह ख़याल उस दिन से उठा है, जब आप ज़ोहरा के साथ पहलेपहल ग़रीबख़ाने पर तशरीफ़ लाए थे। मेरे दिल में कोई बार-बार यह कहता है कि आप ज़ोहरा से मुहब्बत करते हैं।"

यह कहकर मुश्तरी मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखने लगी।

मैंने सिर झुकाकर कहा—"हाँ, मुहब्बत है, लेकिन वह पाक मुहब्बत है; वह मुहब्बत, जो भाई की बहन के लिये होती है।"

मुश्तरी की आँखें चमकने लगीं।

उसने प्रसन्न कंठ से उत्तर दिया—"ख़ुदा आपका भला करे। मुझे यही ख़याल था। आप-जैसे आदमियों से मुझे यही उम्मीद है। अब मैं बहुत ख़ुशी से मरने के लिये तैयार हूँ। मैंने आपको अपनी कुल जायदाद का ट्रस्टी मुक़र्रर किया है, हालाँकि आपसे इस बारे में कभी कोई बातचीत नहीं की। क्या मैं उम्मीद करूँ कि आप इस ज़बरदस्ती के बोझ को उठाकर मुझे और ज़ोहरा को कृतज्ञ बनाएँगे। जब तक ज़ोहरा की शादी नहीं होती, तब तक आप ही मेरी जायदाद की देख-रेख करेंगे, बाद में किसी सत्पात्र को देखकर ज़ोहरा की शादी उससे कर दीजिएगा, और उस वक़्त से कुल जायदाद की एकमात्र मालकिन ज़ोहरा होगी।"

मुश्तरी कहते-कहते थक गई।

मैं चकित होकर न-मालूम क्या-क्या सोचने लगा।

थोड़ी देर बाद मुश्तरी फिर कहने लगी—"इस वक़्त ज़ोहरा नहीं है, मेरा ख़ून से कमाया हुआ पैसा यों ही बरबाद हो जायगा—लोग ले जायँगे, इसलिये आपको तकलीफ़ दी है। आप इन सब वस्तुओं को बमूजिब लिस्ट सँभाल लीजिएगा, और ज़ोहरा के जेल से वापस आने पर सँभला दीजिएगा। मैं जानती हूँ, यह परेशानी नाहक़ है, लेकिन फिर भी आपके सिवा किसको सौंप जाऊँ?"

मुश्तरी असहाय, दीन दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी।

मेरे मन में अनेक विचार उठने लगे। मैंने पूछा—"लोग कहते हैं, ज़ोहरा तुम्हारे पेट की लड़की नहीं है, क्या यह सच है?"

मैं उसकी ओर उत्तर मिलने के लिये देखने लगा।

मेरे प्रश्न ने उसे चौंका दिया, वह भीत दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी।

मैंने तेज़ दृष्टि से देखते हुए कहा—"हाँ, मैंने सुना है कि ज़ोहरा तुम्हारी संतान नहीं है। मेरे पास इसका सुबूत मौजूद है, मैं सिर्फ़ तुम्हारे मुँह से उसे सुनना चाहता हूँ। यह तुम्हारा आख़िरी व.क्त है, फ़िज़ूल झूठ बोलकर एक पाप और बढ़ाने की कोशिश मत करो।"

मुश्तरी ने एक साँस लेकर कहा—"नहीं, मैं सच कहूँगी, झूठ बोलकर पाप न बढ़ाऊँगी। हाँ, दर असल ज़ोहरा मेरी कोख की लड़की नहीं है।"

मेरी उत्सुकता बढ़ने लगी। मैंने पूछा—"किसकी लड़की है?"

मुश्तरी ने थोड़ी देर बाद कहा—"आज से कोई पंद्रह साल हुए होंगे, मैं सहारनपुर राजा सूर्यबलीसिंह की लड़की की शादी में दिल्ली से बुलाई गई थी। ऐसी धूमधाम की मजलिस बहुत कम देखने में आई है। वहीं ज़ोहरा मुझे देखने को मिली। ज़ोहरा का परियों-जैसा रूप देखकर मैं उसके मोह-जाल में फँस गई। यहाँ तक

मेरे दिल पर असर हुआ कि मैं बीमार पड़ गई। डॉक्टर और हकीमों की तजवीज़ें सब निष्फल गईं, और लोग मेरी ज़िंदगी से नाउम्मीद हो गए। मेरी आँखों के सामने ज़ोहरा की ही तस्वीर थी, और उसी की याद में मैं मुब्तिला थी। एक दिन मैंने अपने दिल का राज अपने उस्ताद अलीमुहम्मद से कहा, और यह भी ज़ाहिर किया कि अगर ज़ोहरा मुझे न मिलेगी, तो मैं ज़रूर मर जाऊँगी। अलीमुहम्मद को मुझसे दिली मुहब्बत थी। उसने बहुत तरह से मुझे ढाढ़स दिया, और उम्मीद बँधाई। आख़िर एक दिन रात को उसने मेरी प्यारी ज़ोहरा को लाकर मेरे सामने खड़ा कर दिया, और उसी वक़्त सहारनपुर छोड़ने को कहा। ज़ोहरा को देखते ही मेरी कमज़ोर नसों में ताक़त आ गई थी। उसे कलेजे से लगाए हुए उठ खड़ी हुई, और उसी दिन उसे लेकर लखनऊ चली आई। तब से ज़ोहरा मेरे पास है। मैंने इसे ज़माने की रविश के माफ़िक़ पढ़ा-लिखाकर होशियार किया। ज़ोहरा को शुरू से ही मेरेपेशे से नफ़रत थी, और मैं भी उसे इस पेशे में हरगिज़ डालना पसंद न करती थी। चुनांचे इस हवा से अलाहिदा ही रक्खा, किसी हमपेशा से इसे मिलने नहीं दिया। मेरे मन में सिर्फ़ एक ही तमन्ना बाक़ी रही, वह थी उसकी शादी की। मैं इसका विवाह किसी ग़रीब, लेकिन एक पाक ख़यालात के नौजवान से करना चाहती थी, और इसी की तलाश में थी, लेकिन ज़ोहरा की ज़िद थी कि वह शादी कभी नहीं करेगी। इसी ज़िद ने उसे अभी तक कुँआरा रक्खा है। मैंने उसकी उमंगों को कभी बरबाद करने का ख़याल नहीं किया। ज़ोहरा मुझे जान से ज़्यादा अज़ीज़ है। ज़ोहरा की परवरिश अब आप करें········।"

कहते-कहते मुश्तरी थककर चुप हो गई।

सहारनपुर का नाम सुनकर मेरी उत्सुकता बेहद बढ़ गई थी। मैंने उत्कंठित स्वर में पूछा—"ज़ोहरा क्या किसी मुसलमान की

लड़की है? और क्या यह नाम उसका असली नाम है, या तुम्हारा दिया हुआ।"

मुश्तरी ने आँखें बंद किए हुए कहा—"ज़ोहरा हिंदू की लड़की है, निहायत ख़ूबसूरत होने से मैंने यह नाम दिया है।"

मैंने फिर पूछा—"ज़ोहरा के असली वालिद का क्या नाम है?"

मुश्तरी ने मेरी ओर देखते हुए कहा—"वालिद का नाम कुछ याद नहीं है।" फिर थोड़ी देर के बाद कहा—"ठीक याद आया, ज़ोहरा के वालिद सरकारी नौकर थे, वह कहीं के तहसीलदार थे, और उनका नाम था टीकाराम।"

सुनते ही मैं उछल पड़ा, और दोनो हाथों से मुश्तरी को पकड़ लिया। मेरे मन में एक विचित्र तरह का तूफ़ान उठ रहा था। मुश्तरी मेरी ओर करुण दृष्टि से देखने लगी।

मैंने चिल्लाकर कहा—"अरी पापिन, तू वही दुष्टा है, जो मेरी विद्या को चुराकर लाई थी। पं० टीकाराम मेरे बाप का नाम है, और ज़ोहरा जिसे तू कहती है, उसका नाम विद्या है, जो मेरी सगी बहन है। तूने यह चोरी तारीख़ १६ जून, सन् १६१५ में करवाई थी। हम लोगों ने तलाश करते-करते ज़मीन-आसमान एक कर दिया, मगर विद्या का पता न लगा। मेरी मा रोते-रोते अंधी हो गई, और मैं तो क़रीब-क़रीब मर ही चुका था। तूने मेरी विद्या का जन्म नष्ट कर डाला। अब तुझे मैं गिरफ़्तार करता हूँ, और तेरा चालान करूँगा।"

मुश्तरी की आँखों से आँसू बह रहे थे। उसने मेरी ओर करुण दृष्टि से देखते हुए कहा—"जनाब, आप मुझे क्या गिरफ़्तार करेंगे। मैं तो किसी दूसरी ताक़त में गिरफ़्तार हो चुकी हूँ! ख़ुदाई इंतिक़ाम बड़ा ज़बरदस्त होता है, लेकिन शुक्र है उस पाक-परवरदिगार का, जिसने आख़िरी वक़्त यह मौक़ा तो मुझे दिया कि मैं

अपने गुनाहों की माफ़ी आपसे माँग सकूँ। वाह रे, ख़ुदाई इंतक़ाम कि मैंने अपनी ज़ोहरा की सरपरस्ती और उसकी जायदाद के इंतज़ाम के लिये उसी के सगे भाई को मुक़र्रर किया। इसमें कोई शक नहीं, बिलकुल मुबालग़ा नहीं, ख़ुदा ने मेरे हाल पर रहम फ़रमाया है। अब्रे-रहमत की बूँदें इस आख़िरी वक़्त में डालकर मुझे निहाल कर दिया है।"

कहते-कहते मुख़्तरी की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। मैं विस्मित होकर देखने लगा।

(६)

असंख्य स्त्री-पुरुष ज़ोहरा उर्फ़ विद्या के स्वागत के लिये लखनऊ-सेंट्रल जेल के सामने खड़े थे। मैं भी खद्दर का कुरता और टोपी पहने सबके आगे था, और राधा फूलों की माला लिए उत्सुक दृष्टि से विद्या के जेल की दीवारों से बाहर निकलने की प्रतीक्षा कर रही थी। भगवान् सूर्यनारायण क्षितिज के सिरे पर दिखाई दिए। जेल का फाटक खुला, और खद्दर की साड़ी पहने हुए, मुस्किराती विद्या निकली। विद्या को देखते ही जय-घोष से आकाश कंपित होने लगा। राधा ने आगे बढ़कर उसके गले में जयमाल डाली, और तिलक करने के लिये उद्यत हुई।

विद्या ने राधा को प्रणाम करते हुए कहा—"भाभीजी, प्रणाम! अब तो भाई साहब को नौकरी से इस्तीफ़ा देना पड़ेगा।"

राधा ने हँसकर कहा—"हृदय से नौकरी का इस्तीफ़ा तो वह उसी दिन दे चुके हैं, जिस दिन उन्होंने तुम्हें देखा था, और आज इस्तीफ़ा लिखकर अपने साथ लाए हैं, जिसे आज ही तुम्हारी अनुमति पाकर दाख़िल करेंगे।"

विद्या हँसने लगी, और मैं भी मुस्किराने लगा।

खेल

(१)

रामनिवास किसी अज्ञात प्रेरणा से उस चूड़ीवाले की दूकान की ओर देखने लगा। स्वभावतः चूड़ीवाले ने भी उसकी ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखा, और थोड़ी देर बाद पूछा—"क्या चाहिए जनाब ?"

रामनिवास उसी की दूकान के एक खाली कोने में, जहाँ सुहागिनियाँ आकर अपने हाथों में सुहाग-चिह्न पहना करती थीं, बैठ गया। वह अब भी चुप था, किसी अज्ञात शक्ति से लड़ने की चेष्टा कर रहा था, परंतु वह शक्ति उसे पराजित करती जा रही थी।

चूड़ीवाला प्रौढ़ व्यक्ति था। उसके सहज गोरे रंग ने अब एक झुलसा हुआ भूरा रूप धारण कर लिया था, जो अपनी मौन-भाषा में कह रहा था कि उसने बहुत वर्ष कठोर धूप और खुली हवा में बिताए हैं। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं, और उनमें एक अद्भुत प्रकाश था—जिसमें पवित्रता का तेज था, और सादगी तथा सच्चरित्रता की निःशंक ज्योति थी। वह हिंदू था, उसका नाम तो था मथुराप्रसाद, लेकिन ताजगंज में हरिमोहन के नाम से विख्यात था। उसने रामनिवास से पूछा—"क्यों भाई, क्या चाहते हो ?"

रामनिवास के मुँह से अपने आप निकल गया—"सहानुभूति।"

इस शब्द ने उसके हृदय के उस स्थान में आघात किया, जहाँ वह अपना दुःख छिपाए हुए था। उस शब्द ने बिजली के बटन की भाँति उस अज्ञात शक्ति के दूसरे सिरे को भी जाग्रत् कर दिया।

उसके मुख से अनायास निकल गया—"तो आओ भाई, बैठो। जब तुम्हें हमारी आवश्यकता है, तो मुझे भी तुम्हारी होगी। अच्छा, तुम्हारा नाम क्या है?"

रामनिवास ने सिर झुकाए हुए कहा—"लालताप्रसाद।" वह चौंका, और सत्य कहने के लिये दुबारा उद्यत हुआ, परंतु कहते-कहते ठहर गया। मनुष्य की कमज़ोरी व्यंग्य से मुस्किराने लगी। रामनिवास उस दिन से लालताप्रसाद हो गया। और मथुराप्रसाद तो हरिमोहन था ही। कोई अज्ञात शक्ति अपनी विजय-हँसी हँसने लगी, क्योंकि उसने दो व्यक्तियों को इस ब्रह्मांड के दो कोनों से लाकर एकत्र कर दिया था, परंतु फिर भी माया की छलना उनकी असलियत अपने उदर में छिपाए थी।

(२)

दोनो एक दूसरे को नहीं जानते थे, एक की असलियत दूसरे से छिपी हुई थी, फिर भी दोनो एक दूसरे के दोस्त थे। उन्हें अपने पिछले जीवन के उन पृष्ठों से कोई मतलब न था, जिन्हें वे हमेशा के लिये बंद कर चुके थे। एक दूसरे के बारे में वे केवल इतना जानते थे कि वे दुखी व्यक्ति हैं, और मानव-जाति के सबसे मनोरम एवं पवित्र गुण—सहानुभूति—की उन्हें आवश्यकता है। वह सहानुभूति मौखिक या शाब्दिक न होकर आत्मिक और मौन थी।

मथुराप्रसाद उर्फ़ हरिमोहन केवल इतना जानता था कि लालताप्रसाद उर्फ़ रामनिवास कुलीन हिंदू-परिवार का एक व्यक्ति है, जिसके पास अब भी गुज़ारे लायक़ पर्याप्त धन अवशेष है। सन् १९०० में वह 'डीपूवालों' के फेर में पड़कर, प्रशांत सागर के एक छोटे-से टापू में क़ुली होकर आबाद हो गया था। अपने घर में वह एक दूध-पीती छोटी बहन और विधवा मा को छोड़ गया था। उस टापू में जाने के बाद वह उनकी खोज-ख़बर लेने में असमर्थ हो गया था,

और एक तरह से जीवित ही उनके लिये मृत हो गया था। पाँच साल बाद वह एक स्वतंत्र नागरिक हो गया था, परंतु उसके पास वापस आने को पर्याप्त धन न था। स्वदेश लौटने की इच्छा की हत्या करनी पड़ी। वह वहाँ व्यवसाय करने लगा। भाग्य-लक्ष्मी चमकने लगी, परंतु वह उसे अपनी दासता में फाँसने लगी। धन की लालसा ने स्वदेश को भुला दिया। लेकिन थोड़े दिनों बाद उसी ने उस विस्मृत इच्छा में उत्तेजना पैदा की, और कारबार बंद करके स्वदेश की ओर, अपनी मा और बहन से मिलने के लिये चल दिया। कई वर्ष बाद वह अपने गाँव गया। उसने देखा, उसके घर का कहीं नाम-निशान नहीं है—एक मिट्टी का ढेर है, जहाँ मुहल्लेवाले कूड़ा डालते हैं। क्षण-भर के लिये वह अस्थिर हो गया, और सूर्य के प्रखर प्रकाश में, आँसू-भरी आँखों से, उस खँडहर की धूल में, अपने पुराने जीवन की बिखरी हुई स्मृतियाँ इकट्ठा करने लगा। लोगों ने उत्सुकता से देखा, और पड़ोस के कुरमी-परिवार ने उसे पहचानकर, छिपे हुए संकोच से, उसका स्वागत किया। उसे मालूम हुआ, उसकी मा मर गई है, और उसकी बहन ब्याह होने के बाद अपने पति को छोड़कर किसी के साथ भाग गई। वह शर्म से वहीं गड़ गया, और आकाश की ओर शून्य दृष्टि से देखने लगा। उसके हृदय में क्रूर विधाता के लिये अव्यक्त तिरस्कार था। उसका साहस न पड़ा कि वह अपने बहनोई का नाम पूछे। वह चुपचाप उठकर चलने लगा। कुरमी-परिवार ने उससे खाने के लिये आग्रह किया, परंतु वह अधिक देर वहाँ न ठहर सका, और संध्या की कालिमा ने उसे अपनी काली चादर से ढककर छिपा लिया। उस दिन से वह निरुद्देश होकर घूमता-फिरता है। उसके मन में केवल एक इच्छा है कि वह अपने जीवन में केवल एक बार, चाहे वह कुछ ही क्षण के लिये हो, अपनी छोटी बहन से मिल ले। उसे अब भी याद था कि

उसकी बहन के हाथ में छ उँगलियाँ हैं, और हथेली में एक काला गोल निशान। उसके दाहने कान की लूर में एक बड़ा-सा काला मसा है, और पीठ में जला हुआ दाग़, जो लड़कपन में जलते हुए दीपक के गिर जाने से पड़ गया था। उस घटना की याद उसे अब तक थी। अतीत में, जीवन के प्रारंभ में, वह मिट्टी के तेल का दीपक लेकर जा रहा था, रास्ते में उसकी बहन 'सुंदर' सो रही थी। एका-एक उसके हाथ से दीपक गिर गया, और मिट्टी का तेल उसके शरीर और कपड़ों में पड़कर अग्नि के संसर्ग से प्रज्वलित हो गया। उसकी बहन चिल्ला उठी। क्षण-भर के लिये निस्तब्ध होकर उसने उसकी ओर देखा, और फिर उसे गोद में उठा लिया। अग्नि बुझी नहीं, वह नीचे से अपनी ऊँची लपटों के साथ उठकर उसकी पीठ चूमने का प्रयत्न करने लगी, और वहाँ अपने चुंबन का चिह्न छोड़कर बुझ गई। उसकी बहन का जीवन मृत्यु से खेलने लगा, लेकिन किसी अज्ञात शक्ति के कारण वह विजयी हुआ, और अकाल मृत्यु को अपनी दाढ़ के भीतर से 'सुंदर' को लौटालना पड़ा। उस दिन रामनिवास ने पाँच पैसे का प्रसाद हनुमानजी पर चढ़ाया, और कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से उस सिंदूर-चर्चित प्रतिमा की ओर देखने लगा, जिसमें भयंकरता के सौंदर्य ने अभय रूप धारण किया था। आज दिन तक वह उस स्मृति को अपने उर में छिपाए हुए है।

बात-बात में उसने मथुराप्रसाद उर्फ़ हरिमोहन से सब हाल तो कहा, लेकिन अपनी बहन की पहचान के चिह्न उसने व्यक्त नहीं किए— वह अपनी बहन की शर्म अब भी ढाकना चाहता था। कभी-कभी मनुष्य किसी बात को अपने अभिन्न-से-अभिन्न मित्र से छिपा रखना चाहता है। यही तो व्यक्तित्व का रहस्य और संसार का खेल है।

(३)

मथुराप्रसाद उर्फ़ हरिमोहन के संबंध में रामनिवास उर्फ़ लालता-

प्रसाद को मालूम हुआ कि वह उसी की जाति का है, और उसका घर मथुरा में था। उसके माता-पिता मर चुके थे, और वह कानपुर के एक मिल में मज़दूरी करता था। उसका विवाह-संबंध उसी के एक मज़दूर साथी ने अपने गाँव की एक बेवा की लड़की के साथ तय किया। उसे एक गृहिणी की आवश्यकता थी। वह ऐसा सु-अवसर पाकर धन्य हो गया। ईश्वर की कृपा से उसकी स्त्री सुंदरी थी, वह उसके सौंदर्य में लुब्ध होकर जीवन व्यतीत करने लगा। उसकी स्त्री महत्त्वाकांक्षिणी थी, उसे अपने रूप का ज्ञान था, और उसके हृदय में विलास तथा ऐश्वर्य-भोग की लालसा थी—जिसका उसके छोटे-से घर में सर्वथा अभाव था। वह रोज़ मथुराप्रसाद के मिल चले जाने पर, घर के बराभदे में बैठ जाती और अपनी रूप-राशि बिखेरकर पथिकों को चकाचौंध करने का सफल प्रयत्न करती। धीरे-धीरे उसका संबंध एक सुंदर नवयुवक से हो गया, और फिर बढ़ते-बढ़ते कई धनी लोगों से हो गया। बदनामी फैलने लगी। घर में कलह और अशांति ने जन्म लिया। मथुराप्रसाद ने शासन से काम लिया, और वह अपनी स्त्री को वक़्त-बेवक़्त मारने-पीटने लगा। स्त्री ने पहले कुछ दिन सहा, परंतु फिर बेशर्मी ने उसे अत्याचार न सहने के लिये उद्यत किया। वह अपने पति से शब्दों से मुक़ाबला करने लगी। एक दिन ऐसे ही एक प्रसंग ने उसे बिलकुल अंधा कर दिया। उसने उसे बहुत मारा, और आहत करके, अपनी कोठरी में बंद कर मिल चला गया। दोपहर को छुट्टी मिलने पर वह वापस आया, तो देखा, उसके घर का ताला टूटा हुआ है, और उसकी स्त्री ग़ायब है। वह तड़प उठा। पड़ोसियों से मालूम हुआ कि वह एक ख़ूबसूरत आदमी के साथ, मोटर पर बैठकर, चली गई है, और उसके संदूक़ की चाभी—जो उसके गृहस्थ-जीवन का उत्तरदायित्व थी—दे गई है। यह इस्तीफ़ा था, जिसे

उसने एक लड़पन के साथ स्वीकार किया। इसके बाद उसने मिल से नौकरी छोड़ दी, कानपुर छोड़ दिया, और घूमता हुआ आगरे आ गया। आगरे में चूड़ी की दूकान खोल ली, और तब से ताज-गंज में आबाद है। उसे जीवन से कोई प्रेम नहीं है—केवल दिन गुज़ारता है। उसे अपनी स्त्री की अब भी याद है, और वह अब भी उसे प्यार करता है। आगरे के इस सुदूर मुहल्ले की निर्जनता में एक मूक आकर्षण है, जहाँ का वायुमंडल आज भी बेगम मुमताज़-महल की पवित्रता से सराबोर है—जिसकी स्मृति में सम्राट् शाह-जहाँ ने अपने वैभव को समर्पित किया है। वह घंटों ताजमहल के पास बहती हुई यमुना की लहरों का अविराम खेल देखता और उसके फेन से अपने हृदय की पीड़ा धोने का यत्न करता, जिसे वह उस समय से छिपाए है, जब से उसकी स्त्री उसे छोड़कर चली गई। प्रेम शाहजहाँ के लिये आशीर्वाद था, और उसके लिये अभिशाप!

(४)

मथुराप्रसाद उर्फ़ हरिमोहन और रामनिवास उर्फ़ लालताप्रसाद की घनिष्ठता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। एक दूसरे के अतीत को न पूछता था, और न कोई कहने के लिये तैयार था। दोनो अपनी-अपनी पीड़ा में विमोहित पड़े थे—और वह उनके आनंद के लिये पर्याप्त था। दोनो एक ही घर में रहने लगे थे, और साथ ही भोजन करते। रामनिवास ने उस चूड़ी की दूकान में आधा हिस्सा ख़रीद लिया था, और लस्टम-पस्टम उसके दिन गुज़रते थे।

रामनिवास ने अपना रुपया बैंक में जमा कर दिया था, और उसे उपयोग में न लाता था। मथुराप्रसाद भी इस संबंध में कुछ न कहता था—उसे धन से घृणा थी। इसी धन के सुनहले आकर्षण ने उसकी स्त्री को उससे छीन लिया था। यदि उसे किसी से घृणा थी, तो धन से, क्योंकि वही उसका रक़ीब था। वह धीरे-धीरे अपनी

ग़रीबी से और सटकर मिल रहा था। उस चूड़ी की दूकान से उसे खाने-भर को मिल जाता था, और इतनी ही का उसे आवश्यकता थी।

रामनिवास ने अपने धन को इसलिये त्याग दिया था कि जिन्हें देने के लिये वह अथक परिश्रम से संग्रह करके लाया था, जिसे देकर वह अपनी बूढ़ी मा और बहन के मुख पर संतुष्टि की हँसी देखना चाहता था, वे दोनो ही न थीं। एक को तो समय ने अपने गर्भ में छिपा लिया था, और एक ने परिस्थिति की ओट में अपना सहज धर्म त्याग किया था। वह कैसी शर्म की कहानी थी, जिसकी याद उसे कँपा देती, और भय से वह अपना भेद फिर अपने हृदय में सयत्न छिपा लेता।

दोनो का जीवन सरल रूप से बीत रहा था। दोनो ऊपर से शांत थे, किंतु दोनो के हृदय में भयंकर तूफ़ान छिपा हुआ था। दोनो एक दूसरे से बिलकुल अलाहिदा थे, परंतु फिर भी दोनो एक दूसरे की मौजूदगी अनिवार्य समझते थे। दोनो का जीवन किसी अज्ञात और अदृश्य शक्ति से बँधा हुआ था, जिससे एक दूसरे को अपना समझते थे। वह शक्ति क्या थी? क्या सीमा-बद्ध ज्ञान के पुतले मनुष्य को क्षमता उसे जानने की है! कौन जाने?

(४)

मथुराप्रसाद ने रामनिवास से कहा—"आज कई दिनों से कुछ भी बिक्री नहीं होती, बिलकुल सन्नाटा है।"

रामनिवास ने कहा—"खाने-भर को काफ़ी है, भाई, चिंता क्यों करते हो।"

मथुराप्रसाद ने कहा—"खाने की चिंता नहीं करता, सोचता हूँ कि मेरा जीवन क्या यों ही बीत जायगा? क्या कभी उससे मुलाक़ात न होगी?"

रामनिवास ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—"क्या तुम उससे अब भी मिलना चाहते हो ?"

मथुराप्रसाद ने अपनी दृष्टि हटाकर कुछ दूर पर स्थित ताज-महल की मीनारों की चकाचौंध में छिपाने का प्रयत्न करते हुए कहा—"हाँ, कभी-कभी इच्छा तो ज़रूर होती है।"

रामनिवास ने कहा—"अच्छा, अगर वह तुम्हें मिल जाय, तो तुम क्या करोगे ?"

मथुराप्रसाद प्रश्न की कठिनता में उलझ गया। उसने कोई जवाब नहीं दिया।

रामनिवास ने कहा—"क्या तुम उसे माफ़ करके अपने घर में फिर जगह दे सकते हो ?"

मथुराप्रसाद ने जवाब दिया—"शायद नहीं ! मैं उससे केवल एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ।"

रामनिवास ने उत्सुक दृष्टि से पूछा—"वह क्या ?"

मथुराप्रसाद ने उत्तर दिया—"वह यह कि क्या तुम सुखी हो ?"

रामनिवास ने तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए कहा—"यह क्यों जानना चाहते हो ? इसे जानकर तुम्हें क्या आनंद मिलेगा ?"

मथुराप्रसाद ने गंभीरता से कहा—"मुझे यह तो मालूम होगा कि प्रेम के ऊपर भी पैसे का राज्य है।"

रामनिवास ने केवल 'हूँ' कहा, और चुप हो गया।

दोनो के दिन फिर गुज़रने लगे, वैसे ही निस्पृह रूप से, जैसे वे सृष्टि के आदि से बीतते चले आते हैं, और अंत तक बीतते जायँगे, जिनके एक-एक पल में मानव-जीवन का इतिहास और उसका परिचय तथा रहस्य छिपा हुआ है।

एक दिन रामनिवास ने मथुराप्रसाद से कहा—"भाई, उसे भूल जाओ।"

मथुराप्रसाद ने कहा—"भूल तो गया हूँ भाई, लेकिन कभी-कभी वह फिर भी याद आ जाती है। मनुष्य बड़ा कमज़ोर है।"

रामनिवास ने कहा—"ठीक है भाई, कमज़ोरियों के समूह का नाम ही तो मनुष्य है। उसकी कमज़ोरियों में ही उसका रहस्य है। नहीं भाई, मनुष्य के नाते तुम उसे नहीं भूल सकते, और जिस दिन उसे भूल जाओगे, उसी दिन तुम मनुष्य से पशु हो जाओगे।"

मथुराप्रसाद चूड़ियों पर की धूल झाड़ने लगा, और अपनी पीड़ा को अपनी साँस के फुफकारों से सुहाग-चिह्नों को परिष्कृत कर उज्ज्वल करने का प्रयत्न करने लगा।

(६)

दो मोटरें आकर ताजमहल के प्रशस्त और ऊँचे फाटक के सामने खड़ी हो गईं। उनमें से कई स्त्रियाँ, जो वेश-भूषा से वेश्याएँ प्रतीत होती थीं, निकलीं, और मुग़ल-सम्राट् की प्रेम-स्मृति के उद्‌गार देखने के लिये उत्कंठित हृदय से आगे बढ़ने लगीं।

उनमें से एक ने कहा—"जहान, बादशाह शाहजहाँ भी अपनी बेगम को कितना प्यार करता था।"

जहान ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—"मुश्तरी, प्रेम क्या सम्राट् और क्या रंक, सबको वशीभूत करता है। हाँ, शाहजहाँ अपनी बेगम को बहुत प्यार करता था। मुग़ल-ख़ानदान में यही एक बादशाह था, जिसने अपने जीवन में केवल एक स्त्री से प्रेम किया था, और उसके मरने के बाद वह उस पर निसार हो गया। सच-मुच यह एक अद्‌भुत उदाहरण है। मनुष्य, और ख़ासकर सम्राट्, क्या इतना प्रेम कर सकता है?"

मुश्तरी ने कहा—"एक हम लोग हैं, जो प्रेम का रोज़ाना एक

सीन खेलती हैं, और फिर भी किसी से प्रेम नहीं करतीं, और न कोई हमसे करता है।"

जहान ने उसे टोककर कहा—"मुश्तरी, तुम भूल करती हो, हम भी प्रेम करती हैं। हम प्रेम करती हैं पहले रुपए से, और फिर किसी एक घटना से, जिसकी स्मृति जलाती तो रहती है, लेकिन जिसमें फिर भी शांति है। मुश्तरी, हम भी मनुष्य हैं, और हम भी प्रेम करती हैं।"

मुश्तरी ने जहान की ओर देखा—जहान उर्फ़ जहानारा अपनी आँखों का एक अश्रु बेगम मुमताज़महल की क़ब्र पर, हृदय के फूल की तरह, चढ़ा रही थी। उसने अपना मुख फिरा लिया। साथ की दूसरी सहेलियाँ इधर-उधर कारीगरी देखकर अपनी जिज्ञासा शांत कर रही थीं।

वे लोग दो घंटे तक इधर-उधर देखकर ताजमहल के बाहर आईं। फाटक के पास ही मथुराप्रसाद उर्फ़ हरिमोहन की दूकान थी। फ़ीरोज़ाबादी चूड़ियाँ क़रीने से सजाई हुई रक्खी थीं। उनकी एक साथिन उसकी दूकान के सामने खड़ी हो गई। मथुराप्रसाद ने पूछा—"क्या कोई अच्छा जोड़ा दिखलाऊँ?"

उसने कहा—"हाँ, दिखलाओ, लेकिन दाम ठीक बताना।"

मथुराप्रसाद ने कहा—"दाम की फ़िक्र न करें, पहले बाज़ार में दरयाफ़्त करके तब भेज दीजिएगा।"

यह कहकर उसने कुछ अच्छी ख़ूबसूरत चूड़ियाँ निकालकर दिखलाईं। दूसरी भी आकर वहाँ खड़ी हो गई, और नए-नए जोड़े देखे जाने लगे। मुश्तरी और जहान, जो मोटर पर जाकर बैठ गई थीं, हार्न बजाकर अपनी सहेलियों को बुलाने का प्रयत्न करने लगीं। इसके जवाब में एक ने कहा—"आप यहाँ तो तशरीफ़ लावें, रोज़ आकर सुहाग तो ख़रीद लें।"

जहान ने जवाब दिया—"सुहाग ख़रीदा नहीं जाता। ऐसा सुहाग तुम्हीं ख़रीदो, मैं तो कभी का अपना खो चुकी हूँ।"

मुश्तरी ने आकर्षित होकर कहा—"चलो, देख ही आवें, शायद कुछ पसंद आ जाय। आगरे से कोई तोहफ़ा तो ले चलना चाहिए।"

मुश्तरी और जहान भी उनके पीछे आकर खड़ी हो गईं। मथुराप्रसाद ने उनकी ओर एक जोड़ा चूड़ियों का बढ़ाते हुए कहा—"लीजिए, आपको शायद यह पसंद आएगा।"

यह कहकर उसने जहान की ओर देखा। उसकी आँखें उसके चेहरे पर स्थिर हो गईं। वह कोई अतीत के चिह्न खोज निकालने का उपक्रम करने लगा। जहान की आँखें भी उसकी आँखों से मिल-कर उसके हृदय के भीतर का भाव देखने के लिये स्थिर हो गईं।

जहान ने फूलती हुई साँस से कहा—"तुम!"

मथुराप्रसाद ने आँखें बंद कर धीमे स्वर में कहा—"तुम!"

जहान का हाथ काँपने लगा, पैर काँपने लगे, और वह पृथ्वी पर बैठ गई। जहान की सहेलियों में खलबली मच गई। डॉक्टर की तलाश होने लगी। वे लोग उठाकर उसे मोटर पर ले गईं।

थोड़ी देर बाद जहान ने कहा—"बहन, आप लोग जायँ। अब हमारा और आपका आख़िरी सलाम है। अब मैं यहाँ रहूँगी। यह दूकानदार मेरा शौहर है, जिसे छोड़कर मैं वैभव और ऐश्वर्य की तलाश में निकली थी। मैंने वह तो पाया, लेकिन खो दिया, वह प्रेम का साया, जो स्त्री-जाति की आत्मा है। बरसों से इनकी तलाश करती रही हूँ, लेकिन इनका पता न मिला। अब आज इन्हें पाया है, इन्हें हरगिज़ न छोड़ूँगी। अगर मुझे इनके हाथ से मरना भी पड़े, तो उसमें मुझे मज़ा आएगा। मैं अपनी पाप की कमाई आप लोगों को देती हूँ, इसकी निस्बत एक दान-पत्र आप लोगों को मिल जायगा, जिससे क़ानूनी तौर पर आप इसकी मालिक हो जायँगी।

अब मैं ग़रीबी को अपने गले का हार बनाकर अपने पाप धोने का प्रयत्न करूँगी। मुझे मालूम है, वह मुझे अब भी प्यार करते हैं, क्योंकि पहले भी अपने से ज़्यादा करते थे। उनका प्यार मिट नहीं सकता। प्यार मिटने का नहीं होता। केवल लालसा और तृष्णा मिटती है। अब मैं उनके साथ रहकर, उनकी ग़ुलाम बनकर, अपने पाप धोऊँगी। जाइए, मोटर ले जाइए, और ये गहने भी ले जाइए। पुराने जीवन का मैं कोई भी चिह्न बाक़ी नहीं रखना चाहती। आप लोग मुझे पागल समझती होंगी, लेकिन मैं पूरे होश-हवास में हूँ। बस, आप लोग जाइए।"

रामनिवास, जो मोटर के पास आ गया था, उसकी ओर देख रहा था। जहान ने अपना हाथ बाहर निकालकर उतरने का उपक्रम किया। रामनिवास ने देखा, उसकी हथेली में एक काला निशान है, जैसा उसकी बहन 'सुंदर' की हथेली में था। उसकी स्मृति सजग हो गई। उसकी दृष्टि उसके दाहने कान की लूर पर गई, वहाँ भी काला मसा था। उसने जहान को पकड़ते हुए कहा—"क्या तुम्हारी पीठ में भी जलने का दाग़ है?"

जहान ने विस्फारित नेत्रों से देखते हुए कहा—"हाँ, है तो, यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ?"

रामनिवास ने फिर पूछा—"वह निशान क्या तुम्हारे भाई के हाथ से चिराग़ गिरकर जल जाने से हुआ था?"

जहान ने धड़कते हुए कलेजे से कहा—"हाँ, मैंने अपनी मा की ज़बानी सुना था कि जब मैं छोटी थी, तो मेरे भाई रामनिवास के हाथ से..........."

आगे जहान न कह सकी।

रामनिवास ने उसे अपने पास खींचकर कहा—"सुंदर, सुंदर, तुम्हारा भाई रामनिवास मैं ही हूँ। आज कई साल से परदेश से

लौटकर तुम्हारी खोज कर रहा हूँ। आओ बहन, आओ। अगर हरिमोहन तुम्हें अपने घर में स्थान न देगा, तो तुम्हारा भाई मैं तो हूँ ही।"

जहान उर्फ़ सुंदर अपना आवेग न रोक सकी। विस्मित लोगों की भीड़ में वह अपने भाई की कमर से लिपटकर रोने लगी—हर्ष से या ग्लानि से?

कोई अज्ञात और अव्यक्त शक्ति ब्रह्मांड में कोई दूसरा खेल खेलने के लिये उन तीनो व्यक्तियों की ओर मुस्किराती हुई अदृश्य हो गई।

अद्भुत मिलन

(१)

११ जनवरी की प्रभात-किरणें ठिठुरते हुए सूर्य से निकलकर कराची-बंदर के डाक्स के बाहर सर्दी से सिकुड़ते हुए फ़क़ीर को काँपने के लिये बाध्य करने लगीं। फटे हुए चिथड़ों से सर्दी दूर होने की कोई आशा न थी, परंतु फिर भी उसने उन्हें कसकर अपने बदन से लपेट लिया, और हज जानेवाले यात्रियों की ओर तरसती हुई आँखों से देखने लगा। उसके सिर और दाढ़ी के बाल बेतरह बढ़े हुए थे, जिन्होंने चारो ओर से उसकी बड़ी-बड़ी, किंतु परेशान आँखों को घेर लिया था, जिनकी चमक से किसी ग़ौर से देखनेवाले के हृदय में एक क्षुद्र कंपन के साथ किंचित् दर्द स्वयमेव पैदा होता। उसका मस्तक प्रशस्त था, और उस पर बिखरे हुए सफ़ेद और कुछ काले बाल उसकी बेकसी और बेनसीबी का परिचय दे रहे थे। उसके सिर पर फटी हुई ईरानी टोपी थी, जिसकी ज़री तो न-मालूम कब निकल गई थी, मगर उसे अपनी स्मृति का पुराना सहचर समझकर, बुढ़ापे की लकड़ी की तरह, अपने शरीर से चिपटाए था। उसकी बरौनियाँ दाहने और बाएँ तरफ़ से कुछ-कुछ सफ़ेद हो चली थीं। जिस वक़्त सर्दी से काँपकर वह पुराने समय का ख़याल करता, उसके मस्तक पर बल पड़ जाते, और अपनी वर्तमान दशा के विरोध में उसके शरीर का ठंडा ख़ून एक बार उबलने की कोशिश करता; किंतु असफल होने पर वह बड़े-बड़े तीन बल मस्तक पर छोड़कर पुनः हृदय-कोष में गरम होने के लिये तीव्रता

से चला जाता। उसका मुख उस हीन दशा में भी तेजस्वी था, और सहृदयों को कभी-कभी यह सूचित कर देता था कि उसने भी कभी अच्छे दिन देखे हैं। उसका क़द लंबा था और उसके हाथ-पैर वृद्धावस्था से शिथिल हो गए थे। परंतु जब कभी चिथड़ों को कसकर लपेटने के लिये अपने हाथ बाहर निकालता, तो विदित होता कि कभी उनमें बल था, और दूसरों के बल की आज़मायश करने की विकट लालसा थी। फिर भी वह इस समय लाचार था, दूसरों की दया और सख़ावत का मोहताज था।

कराची में उसकी वह पहली रात्रि थी। कल शाम को वह हैदराबाद से आया था। इसके पहले उसके जीवन का एक बड़ा भाग मारवाड़ के रेतीले मैदानों में, पेड़-पौधों से रहित कठोर छोटी-छोटी पहाड़ियों की गुफाओं में, बीता था, जिससे शरीर का वर्ण झुलसकर पीली मिट्टी (जिसमें ज़रा-सा गेरू मिला हो) का-सा हो गया था। उसके दिनों की छाप उसके सारे अवयवों में इस तरह लगी थी, जिसे मिटाना मुश्किल ही नहीं, वरन् असंभव था। वह अकेले जीवन बिताने का आदी हो गया था, इससे उसे समग्र मनुष्य-जाति से घृणा थी। जब वह सिंध-हैदराबाद-मेल से बिना टिकट सवार होकर 'बालोतरा'-स्टेशन से चला था, तब भी उसने किसी मनुष्य से बातचीत नहीं की, यद्यपि उसने किसी मनुष्य का मुख वर्षों बाद देखा था। उनके बीच में वर्षों बाद बैठा था। हैदराबाद तक तो वह जोधपुर-रेलवे के कर्मचारियों की बदौलत, बिना किसी तरह तंग हुए, निर्विघ्न पहुँच गया था, परंतु आगे जाने में उसका मन शंकित होने लगा। वह इधर-उधर फिरकर अपने हृदय को उत्साहित करने लगा। अंत में जी कड़ाकर और ईश्वर का नाम लेकर वह एक कराची जानेवाली गाड़ी में बैठ गया। वह अभी २-४ स्टेशन ही गया होगा कि एक पंजाबी सिक्ख टिकट-इग्ज़ैमिनर ने उसे

पकड़ लिया। उसकी ओर देखकर उसने कहा—"बाबा, मैं फ़क़ीर हूँ, हज करने जा रहा हूँ, ख़ुदा के वास्ते मुझे जाने दो।"

नमकहलाल पंजाबी सिक्ख ने उसकी दाढ़ी पकड़कर एक झटका देते हुए कहा—"यह तुम्हारे बाबा की रेल नहीं, सरकार की है। इस पर जाने से टिकट लेना पड़ता है, और टिकट के लिये दाम देने पड़ते हैं।"

दाढ़ी पकड़ते ही फ़क़ीर की आँखों में ख़ून उतर आया। वर्षों से ठंडे हुए ख़ून ने एकदम उबलकर उसे क्रोध से अचेत कर दिया। उसने कसकर उसके एक तमाचा रसीद किया। जवान सिक्ख की आँखों के सामने अँधेरा छा गया, और दूसरे ही क्षण वह खिड़की से टकराया। यात्रियों ने उसे गिरने के पहले ही रोक लिया।

पंजाबी सिक्ख क्रोध से झूमकर मारने के लिये आगे बढ़ा, किंतु शांति-प्रिय यात्रियों ने उन दोनो को पकड़ लिया।

फ़क़ीर के चेहरे पर पहले-जैसी शांति फिर विराजने लगी। वह गुमसुम होकर एक कोने में बैठ गया। पंजाबी उसे गालियाँ देने लगा।

फ़क़ीर ने मुस्किराकर कहा—"शरीफ़ आदमी अपने मुँह से गालियाँ नहीं निकालते, अगर उन्हें कुछ मलाल होता है, तो उसे अपने हाथों से धोकर साफ़ करते हैं। गंदगी को मुँह से साफ़ करने की आदत तो सिर्फ़ कुत्तों में पाई जाती है।"

पंजाबी पुनः मारने के लिये उद्यत हुआ, परंतु फिर यात्रियों ने अपनी शांति-प्रियता का परिचय विशेष उत्साह से दिया। इसी दरमियान स्टेशन आ गया, और गाड़ी खड़ी हो गई।

पंजाबी जवान के पीछे जो शक्ति थी, उसका ज्ञान उसे भली-भाँति था। वह दौड़ता हुआ स्टेशन-मास्टर के पास गया और उससे रिपोर्ट की। उसी गाड़ी से हैदराबाद के पुलिस-सुपरिंटेंडेंट मिस्टर

यंग भी यात्रा कर रहे थे। वह भी सरकिल इंस्पेक्टर से, जो उनके साथ ही था, सब हाल सुनकर उस गाड़ी के पास पहुँच गए, जिसमें यह घटना हुई थी। रेलवे-पुलिस द्वारा वह फ़क़ीर तुरंत गिरफ़्तार कर लिया गया। बड़ी शांति के साथ उसने अपने को पुलिस के हवाले कर दिया।

मिस्टर यंग ने उसकी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

फ़क़ीर ने एक बार कुछ झिझककर वैसी ही तीक्ष्ण दृष्टि से उनकी ओर देखा। फिर कहा—"मेरा नाम ग़ुलाममुहम्मद है।"

इसी समय गाड़ी ने चलने की सीटी दी। मिस्टर यंग अपने बैठने की जगह की ओर कुछ सोचते हुए चले गए। ज्यों ही वह अपनी गाड़ी के पास पहुँचे, उन्होंने सरकिल इंस्पेक्टर अबूमुहम्मद से कहा—"यह पहचाना हुआ चेहरा मालूम होता है।"

अबूमुहम्मद ने उत्तर दिया—"कोई पुराना गुनहगार मालूम होता है।"

गाड़ी चल दी। अबूमुहम्मद भी उनके साथ ही उस गाड़ी में बैठ गया।

फ़क़ीर ग़ुलाममुहम्मद उसी स्टेशन पर गिरफ़्तार होकर अपनी हज-यात्रा का प्रोग्राम बनाने लगा।

दूसरे दिन वह हैदराबाद वापस लाया गया, और रेलवे-मैजिस्ट्रेट के सामने पेश हुआ। पुलिस ने दो अभियोग लगाकर उसका चालान किया। मैजिस्ट्रेट ने उसे पहले अभियोग यानी सरकारी कर्मचारी को अपने ओहदे का काम करने में मुज़ाहिमत करने के अपराध में बरी इस बिना पर किया कि मुस्तग़ीस को यह अधिकार नहीं कि वह अपना ओहदे का काम करने में किसी को मारे, या उसकी बेइज़्ज़ती करे, और दूसरे अभियोग, बिना टिकट यात्रा करने,

के अपराध में एक हफ़्ते की सादी क़ैद की सज़ा दी। मैजिस्ट्रेट ने मुस्तग़ीस को भी फटकारा कि वह आइंदा ऐसी ग़ैरक़ानूनी हरकत न करे, वरना यह मामला उपयुक्त अधिकारियों के पास मुनासिब कारवाई के वास्ते पेश किया जायगा।

क़ैद से मुक्त होने पर ग़ुलाममुहम्मद फिर रवाना हुआ, और इस बार निर्विघ्न कराची पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर वह सीधा समुद्र-तट की ओर चल दिया, यह जानने के लिये कि हज जानेवाले जहाज़ों में से कोई है, या सब रवाना हो गए। जब उसे मालूम हुआ कि केवल अंतिम जहाज़ बाक़ी है, उसने एक दीर्घ निःश्वास लेकर नीरव आकाश की ओर देखा। सुदूर नील रत्नाकर की लहरों में चंद्रमा का निर्बल प्रतिद्वंद्वी शुक्र अपना मुख छिपाने का प्रयत्न कर रहा था। उस वक़्त उसे भयानक शीत का ज्ञान हुआ, और उसके शरीर के रोंगटे खड़े होकर ठंडी हवा का उपहास करने लगे। उसने कसकर अपना पुराना गुदड़ा अपने शरीर से लपेट लिया, और डाक्स के पास ही लेटकर, अपनी क्षुधा शांत करने के लिये, नींद का आह्वान करने लगा।

(२)

शाह फ़ारस के भतीजे मिर्ज़ा इब्राहीम सुलेमानी उसी जहाज़ से अपने देश वापस जानेवाले थे। मिर्ज़ा इब्राहीम किसी राजनीतिक संबंध को स्थापित करने के लिये भारत-सरकार द्वारा निमंत्रित होने पर आए थे, और उस संबंध के विषय में संपूर्ण शर्तें तय करके शाह फ़ारस के पास उनकी अनुमति प्राप्त करने के लिये जा रहे थे। यह पहले ही भारत-सरकार द्वारा निश्चित हो चुका था कि जहाज़ फ़ारस के बंदर अब्बास पर ठहरेगा, और मिर्ज़ा इब्राहीम को उतार फिर 'जिद्दा' जायगा।

उस रोज़ कराची-डाक्स पर पुलिस का इंतज़ाम था। सूर्योदय

होते ही पुलिस-जवानों की टोलियाँ आकर चारो ओर सफ़ाई वग़ैरह का इंतज़ाम करने लगीं। ग़ुलाममुहम्मद, जो अब तक जाड़े से डरकर अपना मुँह लपेटे पड़ा था, एक पुलिसवाले की ठोकर लगने से उठ खड़ा हुआ। पुलिस कांस्टेबिल ने कड़ककर कहा—"यह कोई सराय नहीं, जो आराम से बिस्तर लगाकर सो रहे हो!"

ग़ुलाममुहम्मद ने अपना बिस्तर समेटते हुए कहा—"फ़क़ीर की सराय कुल दुनिया है। बाबा, ग़ुस्सा न हो, मैं जाता हूँ।"

यह कहकर उसने असबाब सिर पर रख लिया, और धीरे-धीरे वहाँ से निकलकर सड़क पर आ गया।

वहाँ से कुछ दूर जाकर सड़क के किनारे बिस्तर रखकर सूर्य के प्रकाश में शरीर की सर्दी दूर करने लगा।

वहाँ कुछ पेड़ों की छाया से धूप छनकर आती थी। वह ज़रा सड़क की तरफ़ आगे बढ़ गया, जहाँ धूप साफ़ थी। उस समय सड़क पर लोगों की आमद-रफ़्त पूरे तौर पर नहीं हुई थी। वह शांति के साथ धमाने लगा। धीरे-धीरे उसके विचारों ने उसे चारो ओर से घेर लिया, और वह उनमें डूबकर बाह्य संसार की सुध-बुध खो बैठा।

उसकी चिंताओं का स्रोत उस समय टूटा, जब उसके आगे और पीछे कई मोटरों के 'हार्न', उसे मार्ग से हटाने के लिये, अपनी भीषण आवाज़ से चिल्लाने लगे। ग़ुलाममुहम्मद घबराकर सड़क की दूसरी ओर भागा, लेकिन उधर से भी एक मोटर आ रही थी। वह पुनः पीछे लौटा, किंतु इसके पहले कि किनारे पहुँचे, पहले आनेवाली मोटर से लड़खड़ा गया, और उसके झपेट में आकर सड़क पर गिर पड़ा। गिरते ही बेहोश हो गया। मोटर कुछ दूर जाकर ठहर गई, और उससे एक लंबे क़द और छरहरे बदन का सुंदर युवक निकलकर उसके पास दौड़ता हुआ आया। उसके

पीछे कई नौकर भी बड़ी चमकीली और तड़क-भड़कवाली वर्दियाँ पहने हुए आ गए।

उस युवक ने गुलाममुहम्मद की नाड़ी-परीक्षा करते हुए कहा—"ख़ुदा का शुक्र है कि अभी जान बाक़ी है, सिर्फ़ बेहोश हुआ है। ज़्यादा चोट आई नहीं मालूम होती।"

नौकरों में से एक ने कहा—"इसकी क़िस्मत अच्छी थी, जो मोटर के नीचे नहीं आया, वरना ख़ात्मा था।"

स्वामी और नौकर विशुद्ध फ़ारसी में बात कर रहे थे। इसी समय गुलाममुहम्मद ने अपने नेत्र खोल उनकी ओर देखा।

युवक ने प्रसन्न कंठ से कहा—"अल्लाहोअकबर! यह होश में आ गया है।"

गुलाममुहम्मद ने चकित होकर उस युवक की ओर देखा।

युवक ने टूटी-फूटी उर्दू में पूछा—"कहिए ख़ाँ साहब! अब आपकी तबियत कैसी है?"

गुलाममुहम्मद ने अपने नेत्र बंद कर लिए, और कहा—"आह, आज ज़माने के बाद अपनी मादरी ज़बान सुनने को मिली है। इस मोटर से कुचलने में यह तो फ़ायदा हुआ। शुक्र है उस पाक परवरदिगार का, जिसने ऐसी मुसीबत में भी मुझे बिहिश्त मिलने का मज़ा दिखा दिया।"

फिर थोड़ी देर बाद उस युवक से विशुद्ध फ़ारसी में कहा—"आप मेहरबानी करके फ़रमाइए कि आपका शुभ नाम क्या है, और आप संसार की सबसे मीठी ज़बान, जो बिहिश्त में रहनेवालों की ज़बान है, कैसे बोलते हैं।"

युवक ने विस्मित होकर, मृदुल दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए कहा—"मेरा नाम इब्राहीम है, और मैं मुल्क फ़ारस का रहनेवाला हूँ। मैं हिंदोस्तान की सैर के लिये आया था, अब वतन वापस जा

रहा हूँ। आपके सखुन से मालूम होता है कि आप भी ग़ालिबन् उसी सरज़मीन के रहनेवाले हैं, जहाँ का मैं हूँ। आप क्या दर-वेश हैं?"

गुलाममुहम्मद ने, जो उठकर बैठ गया था, एक साँस के साथ अपनी पुरानी स्मृतियों को अपने उर में ढकेलते हुए कहा—"हाँ, अब तो मैं दरवेश हूँ। एक-एक पैसे का मुहताज। मेरा जन्म मुल्क फ़ारस में हुआ था, जवानी का पहला हिस्सा वहीं ख़त्म हुआ, मगर फ़लक़ को कुछ और मंज़ूर था। गर्दिश में पड़कर पिसता हुआ अपने बुज़ुर्गों के फ़तह किए हुए मुल्क में क़ैदी बनकर आया, तब से यहीं भुगत रहा हूँ। एकाएक दिल में यह ख़याल पैदा हुआ कि इस आख़िरी वक़्त में मक्का शरीफ़ हो आऊँ, और अगर मुम-किन हो, तो किसी तरह कर्बला पहुँचकर अपने दिन गुज़ारूँ, उस दिन का इंतज़ार करते हुए, जब उस पाक ज़मीन के एक छोटे-से कोने में, अपनी ग़ोर में, मैं हमेशा के लिये आराम करूँगा।"

उसका दिल भर आया, उससे बोला न गया।

युवक, जो वास्तव में मिर्ज़ा इब्राहीम सुलेमानी थे, जो भारत-सरकार से किसी राजनीतिक संबंध के विषय में शर्तें तय करने आए थे, और जो आज वापस जा रहे थे, उस फ़क़ीर के दुख से दुखी हो गए। उन्हें उस दिन मालूम हुआ, फ़क़ीर भी उनकी उतनी हमदर्दी का पात्र हो सकता है, जितनी, उनके ख़ास मुल्क में, कोई अज़ीज़ रिश्तेदार। इसके अलावा उस वृद्ध फ़क़ीर में कोई ऐसा आकर्षण था, जो उन्हें उस ओर खींच रहा था, और उसकी बातों पर विश्वास करने के लिये मजबूर कर रहा था।

उन्होंने उस वृद्ध का हाथ पकड़ते हुए कहा—"तुम मायूस न हो। अल्लाह की मेहरबानी से तुम अपने मंज़िले-मक़सूद पर पहुँच जाओगे। मैं जिस जहाज़ से जा रहा हूँ, वह भी मक्का शरीफ़

जायगा, सिर्फ़ मुझे पहुँचाने के लिये बंदर-अब्बास तक जायगा। तुम ख़ुशी से मेरे साथ चल सकते हो। मक्का शरीफ़ तक जाने का ख़र्च मैं ख़ुशी से दूँगा।"

ख़र्च देने का नाम सुनते ही फ़क़ीर के मस्तक पर बल पड़ गए, और उसकी आँखें चढ़ गईं।

मिर्ज़ा इब्राहीम ने उसके मन का भाव ताड़कर कहा—"मैं आपको यह रक़म बतौर हर्जाने के दूँगा, क्योंकि आप मेरी मोटर से घायल हुए हैं। इसे दान समझकर नहीं, बल्कि एवज़ाना जानकर मंज़ूर कीजिएगा, और मैं भी उसी ख़याल से दूँगा।"

ग़ुलाममुहम्मद ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—"सिर्फ़ मक्का शरीफ़ जाने का ऐसा लालच है, जिससे आपकी मेहरबानी मंज़ूर करना पड़ेगी, वरना मैं हरगिज़ न क़ुबूल करता।"

मिर्ज़ा इब्राहीम ने अपने नौकर को उसे सहारा देने का आदेश दिया। ग़ुलाममुहम्मद ने आकाश की ओर देखा। ऊपर चर्ख़ंगर्दूं अपनी तेज़ छुरियाँ देखकर संतोष की हँसी हँसने में मशग़ूल था। ग़ुलाममुहम्मद भी एक वीर सैनिक की भाँति मुस्किराया।

(३)

जहाज़ नील रत्नाकर पर संतरण करता हुआ बड़े वेग से जा रहा था। ग़ुलाममुहम्मद समुद्री बीमारी से बीमार था, और डेक पर लेटा हुआ बड़ी कठिनता से अपने दिन व्यतीत कर रहा था। मिर्ज़ा इब्राहीम ने उसकी चिकित्सा का प्रबंध कर दिया था।

लगातार ख़ून की दो क़ै होने के बाद ज्यों ही ग़ुलाममुहम्मद ने अपना सिर उठाया, त्यों ही मिर्ज़ा इब्राहीम ने कहा—"घबराओ नहीं, यह बीमारी कल आप-से-आप अच्छी हो जायगी। जहाँ समुद्री जल-वायु ने अपना असर पूरा-पूरा जमा लिया, वहाँ सारी शिकायत रफ़ा हो जायगी, और कल तक हम लोग बंदर अब्बास

पहुँच जायँगे। आप उस वक़्त अपनी जन्मभूमि के दर्शन कर सकेंगे।"

ग़ुलाममुहम्मद ने मुँह साफ़ करते हुए कहा—"मुझे तो कोई उम्मीद नहीं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि शायद मेरा आख़िरी वक़्त बहुत नज़दीक है। ख़ुदा की मर्ज़ी नहीं कि मैं मक्के शरीफ़ तक पहुँचूँ। जब से मोटर से लड़ा हूँ, तब से बराबर मेरी पसलियों में दर्द होता रहता है, और इस समुद्री बीमारी से तो मेरी जान क़रीब-क़रीब आधी निकल गई है।"

मिर्ज़ा इब्राहीम ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—"घबराइए नहीं, कल तक आप बिलकुल अच्छे हो जायँगे। इस बीमारी का दौरा एक दिन तो अमूमन् सबको और किसी-किसी को दो दिन रहा करता है।"

ग़ुलाममुहम्मद ने क्षीण स्वर में कहा—"यह दौरा मेरी जान लेकर जायगा। मुझे दो-तीन ख़ून की क़ै हुई हैं, जिससे मालूम होता है कि कहीं कोई सांघातिक चोट पहुँची है।"

मिर्ज़ा इब्राहीम ने घबराकर कहा—"ख़ून की क़ै हुई! यह आपने क्यों नहीं कहा, तब तो ज़रूर तरद्दुद की बात है।"

ग़ुलाममुहम्मद ने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"तरद्दुद की कौन-सी बात। यह उम्र तो मरने की ही है। अगर वतन के क़रीब पहुँचकर मौत आएगी, तो रूह को भटकना न पड़ेगा। वह बहुत जल्द वहाँ पहुँच जायगी, जहाँ ज़िंदगी में नहीं पहुँच सका हूँ।"

यह कहते-कहते उसकी आँखें आर्द्र हो गईं।

मिर्ज़ा इब्राहीम ने उसका हाथ पकड़ते हुए दयार्द्र होकर कहा—"इस क़दर मायूसी ठीक नहीं। आप हज करेंगे, फिर कर्बला जायँगे, और उसके बाद इस ख़ाकसार के ग़रीबख़ाने पर रौनक़-अफ़रोज़ होकर मुझे मशकूर बनाएँगे।"

ग़ुलाममुहम्मद के मुख पर एक चीण व्यंग्य की एक हास्य-रेखा दिखाई दी। इसी दरम्यान उसे ख़ून की तीसरी क़ै हुई। लाल रक्त समुद्र-जल में मिलकर तुरंत अदृश्य हो गया।

मिर्ज़ा इब्राहीम किसी भावी आशंका से सिहर उठे! अपनी तक़-दीर से हमेशा लड़नेवाला फ़क़ीर पस्त-हिम्मत होकर पड़ गया।

उन्हें अपनी ओर बेचैनी से देखते हुए देखकर उसने बहुत धीमे स्वर में कहा—"अब आप नाहक़ परेशान न होइए, ख़ुदा को जो मंज़ूर है, वही होगा। आप तकलीफ़ न कीजिए।"

मिर्ज़ा इब्राहीम की समझ में न आया कि वह क्या कहकर उसे सांत्वना दें। उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि अगर कहीं फ़क़ीर सचमुच मर गया, तो उसकी मौत के वही ज़िम्मेवार होंगे। उनकी आत्मा उन्हें भयभीत करने लगी।

उन्होंने साहस एकत्र करते हुए कहा—"यह मेरी बड़ी भूल हुई, जो मैंने आपको किसी डॉक्टर को उस मोटर-घटना के बाद नहीं दिखलाया। मैं इसी ख़याल में रह गया कि आप सिर्फ़ झपेटे में आकर गिर पड़े हैं, कोई ज़्यादा चोट नहीं लगी। लेकिन अब मालूम होता है कि किसी जगह कोई विशेष चोट पहुँची है। ख़ैर, अब भी कोई डर की बात नहीं। अभी आपको अपने साथ के डॉक्टर के सिपुर्द कर आपका इलाज कराऊँगा। आप मेहरबानी करके दिल न खोएँ, बाक़ी सब ठीक हो जायगा।"

फ़क़ीर पुनः अविश्वास के साथ मुस्किराया।

मिर्ज़ा इब्राहीम उसके उपचार का प्रबंध करने के लिये चले गए।

(४)

प्रातःकाल का सुनहला प्रकाश पूर्व दिशा के क्षितिज पर प्रकट होकर ग़ुलाममुहम्मद की बेहोशी दूर करने का प्रयत्न करने लगा। उसने अपने नेत्र खोलकर सुंदर आकाश में प्रतिपल बढ़ती हुई

प्रकाश की रेखा को मुग्ध चित्त से देखना आरंभ किया। इसी वक़्त जागकर वह हमेशा अपनी माला फेरा करता था। अभ्यास-वश उसका हाथ तुरंत अपने गले में पहुँचकर अपनी चिर-सहचरी माला को ढूँढ़ने लगा। मिर्ज़ा इब्राहीम ने प्रसन्न कंठ से पूछा—"कहिए, अब आपकी तबियत कैसी है ?"

गुलाममुहम्मद ने उनकी ओर चकित होकर देखा। एक के बाद एक, पिछले तीन-चार दिन की बीती घटनाएँ उसके नेत्रों के सम्मुख घूम गईं। उसने धीरता के साथ मुस्किराकर कहा—"अब तो अच्छी है। बस, आज आख़िरी दिन है। अलहम्दुलिल्लाह !"

मिर्ज़ा इब्राहीम ने वह रात जागकर काटी थी। उनकी आँखों से अलसता के चिह्न प्रकट हो रहे थे, और वे सोने के लिये आतुर हो रही थीं !

उन्होंने जमुहाई लेते हुए कहा—"यह आप क्या फ़रमाते हैं। जन्मभूमि के पास पहुँचकर ऐसा न फ़रमाएँ ! अल्लाह बड़ा है, वह सब अच्छा करेगा।"

गुलाममुहम्मद ने कहा—"यहीं पर ख़ुदा की मेहरबानी का सुबूत मिलता है। मेरी यह उत्कट अभिलाषा थी कि मेरा प्राणांत फ़ारस की सर-ज़मीन में हो, और जो मिट्टी मेरी लहद पर डाली जाय, वह मेरे वतन की हो। वह मेरी इच्छा पूरी हो जायगी, और मैं अपने साथ हसरतों का बोझ लेकर न जाऊँगा। इस आख़िरी वक़्त में मैं तुम्हें अपने हृदय से धन्यवाद देता हूँ। तुम्हारी मेहरबानी से मेरे दिल की आरज़ू पूरी हुई। ख़ुदा तुम्हारा इक़बाल दिन-दूना, रात-चौगुना बढ़ाए। तुम्हारी शकल-सूरत और क़याफ़े से मालूम होता है कि तुम कोई बुलंद-इक़बाल अमीर हो। बहुत मुमकिन है कि तुम्हारा संबंध फ़ारस के राजघराने से हो⋯ मगर⋯⋯। कुछ नहीं।"

मिर्ज़ा इब्राहीम की उत्सुकता बढ़ने लगी। उनकी आँखें नींद की झपकियों के हिंडोले से उतरकर उत्सुकता के साथ उस वृद्ध फ़क़ीर की ओर देखने लगीं, जिसके मुख पर पुरानी स्मृतियों की छाया, सिनेमा-चित्रों की भाँति, आने-जाने लगी थी।

उन्होंने उत्तर दिया—"आपका अनुमान सही है। इस वक़्त मैं भी झूठ न बोलूँगा। मैं शाह फ़ारस की तरफ़ से भारतीय सरकार से अपने देश के एक नेता को मुक्त कराने के लिये और इसके साथ ही दूसरी नई शर्तों के साथ संधि भी करने गया था। सुलहनामा तो तय हो गया, लेकिन अपने उस नेता और हक़ीक़ी रिश्तेदार की रिहाई मैं न करा सका। वह बहुत दिन हुए नज़रबंद क़ैद से किसी प्रकार निकल भागे! तब से उनका कहीं पता नहीं।"

मिर्ज़ा इब्राहीम स्वयं विस्मित होकर सोचने लगे कि उन्होंने कैसे यह गुप्त भेद उस फ़क़ीर से कह दिया!

फ़क़ीर की आँखों में एक विचित्र प्रकार की चमक उत्पन्न हो गई, जैसे निर्वाणप्राय दीपक एक बार संपूर्ण शक्ति से प्रदीप्त हो उठता है।

उसने उत्सुकता के साथ पूछा—"उनका क्या नाम था?"

मिर्ज़ा इब्राहीम ने चाहा कि उस प्रश्न के उत्तर को वह टाल दें, लेकिन उसकी तेज़ निगाह उन्हें कहने के लिये बाध्य करने लगी।

उन्होंने उत्तर दिया—"उनका नाम मिर्ज़ा उसमान शाह था। वह हमारे मुल्क के सबसे प्यारे नेता थे। आज भी हमारे मुल्क का बच्चा-बच्चा उन्हें याद करता है, और उनके वापस आने की राह देखता है।"

फ़क़ीर की आँखें उज्ज्वलता से चमक उठीं। उसने अपने मन का उच्छ्वास रोकते हुए कहा—"मिर्ज़ा उसमान को तो शाह फ़ारस ने ही अँगरेज़-सरकार को सौंप दिया था, और अगर कोई क़ुसूर

था, तो यह था कि वह फ़ारस के नौजवानों को अपने पैरों पर खड़ा करने के लिये उत्साहित करते थे। उन्होंने स्वप्न में भी बग़ावत का झंडा खड़ा नहीं किया, लेकिन उन पर अपराध तो यही लगाया गया कि वह बाग़ी हैं। अगर वतन की परस्तिश बग़ावत है, तो आख़िरी दम तक उसमान बाग़ी रहेगा।"

ग़ुलाममुहम्मद के ओष्ठ जोश से फड़कने लगे, और आवेग से उसका कंठ अवरुद्ध हो गया। मिर्ज़ा इब्राहीम उसकी ओर किंचित् भयभीत होकर देखने लगे।

उन्होंने उत्तर दिया—"नहीं, मुल्क की परिस्तिश न तो बग़ावत है, और न कुफ़्र। सन् १६१६ उन बातों के लिये मौज़ूँ वक़्त नहीं था। मिर्ज़ा उसमान शाह रूस से संधि कर अँगरेज़ों से दुश्मनी रखना चाहते थे, और यही न तो शाह को पसंद था, और न उनके सलाहकारों को, क्योंकि अँगरेज़ों से उस हालत में लड़ना पड़ता, और उनका मुक़ाबला करने की ताक़त हममें नहीं थी। मजबूरन् हमें उसमान शाह को बाग़ी कहकर गिरफ़्तार करना पड़ा, और अँगरेज़ों को इस शर्त पर सौंप दिया कि उनके आराम और ज़िंदगी में कोई ख़लल न पड़े। आज ईरान अपने उसमान को माँगता है, और अँगरेज़-सरकार उन्हें नहीं दे सकी, इसलिये हमारे हक़ में कई अच्छी शर्तें उन्हें मंज़ूर करना पड़ीं। मिर्ज़ा उसमान को खोकर हमने कोई ज़्यादा फ़ायदा नहीं उठाया, और हम जानते हैं, इसके लिये मुल्क हमसे जवाब तलब करेगा, और शायद सचमुच बग़ावत हो जाय। मगर क्या किया जाय, मजबूरी है। मैंने विश्वस्त सूत्र से पता लगा लिया है कि मिर्ज़ा साहब १६१८ में ही फ़रार हो गए थे, तब से उनका पता नहीं है।"

ग़ुलाममुहम्मद ने प्रसन्नता के साथ पूछा—"क्या सचमुच ईरान उसमान को पाने के लिये आतुर है?"

मिर्ज़ा इब्राहीम ने उत्तर दिया—"बेशक ! खुद शाह उन्हें देखने और उनसे मिलने के लिये व्याकुल हैं। उसमान के परिवारवालों के साथ उन्होंने निहायत मेहरबानी और दरियादिली का व्यवहार किया है। उन्होंने उनकी बेगम की पेंशन मुक़र्रर कर दी थी, और जागीर का इंतज़ाम अपनी निगरानी में करते थे। उनकी एकमात्र संतान लड़की का विवाह ईरान के सबसे सभ्रांत कुल के एकमात्र उत्तराधिकारी से किया, और उसके दहेज़ में एक बड़ी जागीर उसे इनायत की। आज ईरान में जो भी तरक़्क़ी नज़र आती है, उसका श्रेय मिर्ज़ा उसमान को ही है। उन्होंने तो बीज बोया था, लेकिन अफ़सोस है कि उस पौधे के बड़े होकर फल देने के वक़्त वह इस दुनिया में नहीं हैं, और मैं भी वह हसरत लेकर ही रह गया। मुझे उम्मेद थी कि मैं उन्हें उनकी लड़की के सामने ले जाकर खड़ा कर दूँगा, और कहूँगा कि 'लो, तुम्हारे वालिद यह हैं।' अब यह कहने में हर्ज नहीं कि मैं मिर्ज़ा उसमान शाह का दामाद हूँ, और उनकी एकमात्र लड़की मेरे हरम की बेगम है।"

फ़क़ीर ग़ुलाममुहम्मद उठकर बैठ गया, और तीक्ष्णता के साथ मिर्ज़ा इब्राहीम सुलेमानी की ओर देखने लगा। फिर धीरे-धीरे उनका हाथ पकड़ते हुए कहा—"उसमान अभी ज़िंदा है। अँगरेज़ों की क़ैद से निकलकर वह अब भी जीवित है। ईरान अगर मुझे बुलाता है, तो मैं जाऊँगा। वही मेरा मक्का है, वही मेरी कर्बला। मेरे दामाद, तुम मेरी फ़ीरोज़ के आक़ा हो, मैं तुममें फ़ीरोज़ की छाया देखता हूँ। आह, अब मरने की साध नहीं। मैं अभी नहीं मरूँगा।"

कहते-कहते मिर्ज़ा उसमान शाह हैरतज़दा मिर्ज़ा इब्राहीम के हाथों में गिर पड़े।

मिर्ज़ा इब्राहीम ने आवेग-पूर्ण कंठ से कहा—"मिर्ज़ा उसमान

शाह, मेरे ससुर तुम हो ! ईश्वर को हज़ार धन्यवाद है ! मैं काम-याब होकर लौट रहा हूँ ।"

ससुर और दामाद आवेग से एक दूसरे के गले से चिपट गए ।

पूर्व दिशा से यह अद्भुत मिलन देखकर सूर्य भगवान् हँस पड़े, उनके अरुण बिंबाधरों से सुनहला प्रकाश निकलकर संसार को स्वर्ण-रंजित करने लगा । ठीक उसी समय जहाज़ भी बंदर अब्बास के तट पर लगकर ईरान के क़दम चूमने लगा ।

परिचय

(१)

नीरव आकाश को 'हिज़ मैजिस्टी' की भोपू-ध्वनि भेदन करने का निष्फल प्रयत्न करने लगी। उसके चलने की वह अंतिम सूचना थी। क्षण-भर में जलयान समुद्र के नील वक्ष पर तैरने लगा, और लहरें उत्फुल्लता से पृथ्वी-तट को छूकर बिदा माँगने लगीं। अंबिका-प्रसाद के हृदय में वेदना की एक हूक उठी, और वह शस्य-श्यामल तट की ओर शून्य दृष्टि से देखने लगे। हाईकोर्ट के जज का अंतिम फ़ैसला सुनने पर जो व्यक्ति एक मधुर हँसी से हँसा था, वही इस समय अश्रु प्लावित हो गया।

बेड़ियाँ झनझना उठीं, और अंबिकाप्रसाद उठकर डेक पर जाकर खड़े हो गए। किंतु अधिकारियों को उनकी यह अनधिकार चेष्टा सह्य न हुई, और सार्जंट का गंभीर स्वर में आदेश सुनाई पड़ा। अंबिका-प्रसाद ने मजबूरी से उस सार्जंट की ओर देखा। उनको आज मालूम हुआ कि वह क़ैदी हैं। वह उसकी आज्ञा की अवहेलना न कर सके, और आहिस्ते से अपनी जगह पर आकर बैठ गए।

एक गोरा सार्जंट अपने हाथ में चमड़े का हंटर लिए हुए अंबिका-प्रसाद के पास आकर खड़ा हो गया। अंबिकाप्रसाद अपने विचार में मग्न थे। गोरे ने एक क्षण-भर उनकी ओर देखकर अपना हंटर-वाला हाथ ऊँचा किया, और दूसरे ही क्षण अंबिकाप्रसाद तड़प उठे। सार्जंट हँस पड़ा। वह हँसी दूसरे गोरों को हँसने का संकेत थी। हँसी की तुमुल-ध्वनि में जहाज़ की गति का शब्द डूब गया।

अंबिकाप्रसाद ने क्रोधमय नेत्रों से माइकेल टॉमस (सार्जंट का यही नाम था) की ओर देखा।

माइकेल ने अपना हाथ दुबारा उठाते हुए कहा—"हिंदोस्तानी कुत्ते, तुझे सलाम करना नहीं आता। सलाम करता है या नहीं ?"

माइकेल का हंटर ज़रा ऊँचा उठकर नीरव भाषा में कहने लगा—"अंबिका, तुमको आदेश-पालन करना पड़ेगा, वरना मैं कराऊँगा।"

अंबिकाप्रसाद ने अवहेलना-पूर्ण दृष्टि से पहले उस सार्जंट की ओर देखा, और फिर उठे हुए हंटर के प्रति।

सार्जंट ने अपना हाथ फिर हिलाया, और मूक हंटर मुखरित हो उठा। अपने देश की भाषा में वह बार-बार अंबिका को आदेश देने लगा कि वह सलाम करे, लेकिन अंबिका हंटर की वर्षा को अपने क्षीण शरीर पर झेलकर अपने आत्माभिमान की रक्षा करने लगे।

माइकेल का हाथ रुक गया। अंबिका ने अपने क्षीण हाथों से उसका हंटर पकड़ लिया, और उठने का प्रयत्न किया। परंतु बेड़ियों ने उन्हें मजबूर कर दिया। उठने का प्रयत्न करते हुए वह गिर पड़े। माइकेल का लाल मुँह और लाल हो गया। उसने अपने हाथ का हंटर छुड़ाते हुए दो-तीन पदाघात किए। अंबिका के मुँह से रक्त निकलने लगा। उससे जहाज़ का लकड़ी का फ़र्श लाल हो गया।

सार्जंट माइकेल टॉमस ने विजयोल्लास से अपने मित्रों की ओर देखा, और अपने जूतों से 'फ़िनिशिंग टच' देते हुए कहा—"हल्लो, चार्ली, इस कीड़े को कंपाउंडर को बुलाकर सौंप दो, और कहो कि वह जल्द ही इसे तैयार कर दे, ताकि इसे बहुत जल्द ब्रिटिश शासकों के प्रति सम्मान करना सिखलाया जाय।" फिर अंबिका की ओर जूतों का इशारा करते हुए उसने कहा—"क्यों हिंदोस्तानी सुअर, अब ठीक से सलाम करेगा ?"

अंबिकाप्रसाद की चेतना जूतों के डर से भाग गई थी। उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। सार्जंट ने अपना हंटर छुड़ाया। हंटर निरचेत हाथों से अनायास ही निकल आया।

सार्जंट हँसने लगा। उसके दूसरे साथी भी हँसने लगे।

अंबिका का साथी छोटेलाल अपनी जगह से उठा। परंतु वह अभी उठा ही था कि दूसरे सार्जंट ने अपना हंटर बड़े ज़ोर से उसके पैरों पर मारा। छोटेलाल लड़खड़ाकर भूमि पर गिर गया।

माइकेल ने पीछे फिरकर देखा। अंबिका के विद्रोही-दल का एक मनुष्य और भूमि पर पड़ा हुआ था। पशुता-पूर्ण विजय-श्री उसके नेत्रों के बाहर निकलने लगी। उसने पीछे हटकर उतनी ही शीघ्रता और शक्ति से छोटेलाल की कमर के नीचे के भाग पर प्रहार किया, जैसे वह अक्सर मैदान में फ़ुटबाल को मारा करता था। फ़ुटबाल तो एक ही पदाघात में अपनी जान बचाने के लिये मैदान में भाग जाता था, परंतु छोटेलाल का जीवित शरीर थोड़ा-सा हिल-भर गया। छोटेलाल वेदना की कठोर अनुभूति का रसास्वादन करने लगा, और सार्जंट हँसने लगा।

डॉक्टर एक ऐंग्लो-इंडियन था। उसका नाम था जॉन हिक्स। वह चार कुलियों को लिए दो स्ट्रेचर अपने साथ लाया था। एक पर उसने अंबिका को उठाकर लिटाया, परंतु ज्यों ही छोटेलाल की ओर बढ़ा, माइकेल ने चिल्लाकर कहा—"इस कुत्ते को कोई चोट नहीं लगी है, मैंने तो इसकी पीठ पर सिर्फ़ तीन ही ठोकरें मारी हैं। हाँ, अगर तुमको इसे ले जाने की इच्छा है, तो ठहरो, मुझे इसकी भी तिल्ली फाड़ लेने दो।"

यह कहते हुए माइकेल ने दो प्रहार छोटेलाल के पेट पर किए। निशाना इतना सधा हुआ बैठा कि दूसरे ही क्षण छोटेलाल के मुँह से भी रक्त निकलने लगा। जॉन हिक्स माइकेल और छोटेलाल

के बीच में आकर खड़ा हो गया। उसने एक सीधा धक्का माइकेल को दिया, और कहा—"माइकेल, तुम अपना कर्तव्य पालन नहीं कर रहे हो। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि तुमने दो व्यक्तियों को किस अपराध पर अधमरा कर दिया है? इतना याद रक्खो कि अगर ये लोग मर गए, तो तुम्हें इसके लिये जवाबदेह होना पड़ेगा, और मैं अपनी शहादत तुम्हारे ख़िलाफ़ दूँगा।"

माइकेल ने हँसते हुए कहा—"डॉक्टर, तुम्हारे डरने की ज़रूरत नहीं है। ये कुत्ते इतनी आसानी से नहीं मरते। इनकी आत्मा मज़बूत गोंद से इनके शरीर से चिपकी होती है, जो सहज अलग नहीं हो सकती। तुम शौक़ से मेरे ख़िलाफ़ गवाही देना, अगर वह अवसर तुम्हें मिले। मैं समझता हूँ, और शायद ठीक समझता हूँ कि तुम्हें मेरे बीच में बोलने का या मुझसे मेरे कामों का कारण पूछने का अधिकार नहीं है। अब आप मेहरबानी करके अपने मरीज़ को ले जायँ। और, अगर मुनासिब समझें, तो कैप्टन और मेजर को इसकी इत्तिला दे सकते हैं।"

माइकेल हँस पड़ा। उसके दूसरे साथी भी हँसने लगे। विद्रूप हास्य का भयानक शब्द उस कमरे में गूँजकर डॉक्टर का परिहास करने लगा।

(२)

संध्या की नीरव, श्यामल छाया धीरे-धीरे प्रगाढ़ हो रही थी। अंडमन-द्वीप की सरकारी जेल के क़ैदी अपनी-अपनी कोठरियों में जा रहे थे। माइकेल अपने साथ भारतीय सशस्त्र सैनिकों को साथ में लिए द्वार पर खड़ा था, और अपनी सहज निष्ठुरता का चमत्कार किसी-किसी अभागे क़ैदी को दिखला देता। क़ैदी निस्सहाय तथा दीननेत्रोंसे सहन करते हुए जा रहे थे।

अंबिका और उसके साथियों को आए हुए यह चौथा दिन था।

इन्हीं चार दिनों में उन लोगों को काफ़ी अनुभव प्राप्त हो गया था कि इस पृथ्वी पर अगर कहीं नरक की कल्पना की जा सकती है, तो वह देश यही है। अहर्निश इनको त्रस्त करने में कोई कसर उठा नहीं रक्खी जाती थी। मृत्यु? मृत्यु तो इनके लिये मुक्ति का संदेश थी।

ज्यों ही अंबिका अपने साथियों के साथ जेल के फाटक में घुसा, त्यों ही माइकेल का लपलपाता हुआ कोड़ा उसकी नंगी पीठ पर चल ही तो गया। अंबिका ने प्रश्न-भरी दृष्टि से सार्जंट की ओर देखा। प्रश्न के जवाब में एक भयानक हँसी थी।

माइकेल ने अपना कोड़ा उठाते हुए कहा—"क़ैदी नंबर ३५५ अपने अफ़सर को सलाम नहीं करता। हालाँकि इसे इसकी शिक्षा दी जा चुकी है, मगर अदब करना अभी नहीं सीखता! क़ैदी नंबर ३५५, सलाम करो।"

अंबिका ने आज्ञा पालन नहीं की।

माइकेल के कोड़े को अब ठहरने की ताब कहाँ थी, वह अविराम रूप से चलने लगा। अंबिका के मुँह से एक शब्द नहीं निकला। इन्हीं कई दिनों में मार खाने का उसे अभ्यास हो गया था। यह तो नित्य का व्यापार था।

अंबिका के मौन ने माइकेल को और अधिक उत्तेजित कर दिया। एक दर्जन कोड़े मारकर उसका चित्त स्थिर हुआ। उसने रुककर फिर पूछा—"क़ैदी नंबर ३५५, क्या सलाम करता है?"

अंबिका फिर भी चुप रहा। उसका शरीर लोहू-लुहान हो रहा था, परंतु उसकी आत्मा हँस रही थी।

इसी समय असिस्टेंट जेल-सुपरिंटेंडेंट मिस्टर गयाप्रसाद आ गए। उन्हें देखकर माइकेल ने आदेश-पूर्ण स्वर में कहा—"मि० सुपरिंटेंडेंट, क़ैदी नंबर ३५५ को काल-कोठरी की सज़ा दी जाय। यह

बहुत ही उद्दंड व्यक्ति है, और जेल के नियमों का पालन नहीं करता।" हालाँकि मिस्टर गयाप्रसाद जेल के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट थे, और माइकेल उनके नीचे एक साधारण संतरी, परंतु वह गौरांग था। वह अपने रूप में ब्रिटिश राज्य का प्रतिनिधि था, और मिस्टर गयाप्रसाद ग़ुलाम देश के जीवित रूप थे।

मिस्टर गयाप्रसाद को साहस नहीं हुआ कि वह प्रतिवाद कर सकें। उन्होंने उसी समय एक स्लिप पर हुक्म लिख दिया। ग़ुलामी हँस पड़ी।

अंबिका उसी रात को काल-कोठरी में भेज दिए गए। आहत अभिमान को सँभलने का मौक़ा दुर्गंधित कोठरी में मिला।

लेकिन मिस्टर गयाप्रसाद की आत्मा सुखी न थी। वह अपनी असमर्थता पर विचार करते हुए जेल के बाहर हो गए।

वह सीधे अपने बँगले चले गए। बँगले में घुसते ही उनका चार वर्ष का लड़का लल्लन दौड़ता हुआ उनके पैरों से लिपट गया। मिस्टर गयाप्रसाद को चेत हुआ, और उन्होंने उसे उठाकर अपनी गोद में ले लिया।

लल्लन ने अपने पिता का हैट उतारते हुए कहा—"बाबूजी, आज आपने बहुत देरी की? अम्मा कब से आपको परखे बैठी हैं!"

मिस्टर गयाप्रसाद ने लल्लन को प्यार करते हुए कहा—"बेटा, काम से जब छुट्टी मिले, तब आऊँ। क्या बतावें, सरकारी नौकरी कभी न करे, घास काटकर बेचना इससे कहीं अच्छा है।"

मनुष्य अपने मन की बात कभी अनायास ही कह उठता है, हालाँकि उसके विचार किसी उपयुक्त समझदार व्यक्ति के सामने ही कहनेवाले हों। लल्लन को इतना ज्ञान न था कि नौकरी क्या चीज़ है, और सरकारी नौकरी किसे कहते हैं, उसमें बुराई और भलाई क्या है?

परंतु उनके विचार का उत्तर देती हुई उनकी स्त्री माया एक लता-कुंज से निकली। माया ने आते ही कहा—"अरे, आज तुम्हारे मुँह से यह क्या सुनती हूँ। संभव है, दूर होने से सुनने में भ्रम हुआ हो।"

मिस्टर गयाप्रसाद अपनी पत्नी के सामने अपनी हार माननेवाले न थे। वह सदा से ही सरकार का पक्ष करते आते थे; परंतु आज की घटना ने उनकी असमर्थता पर इतना गहरा प्रभाव डाला था कि उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के कह दिया—"हाँ, मैं सत्य कहता हूँ कि सरकारी नौकरी से घास काटना कहीं अच्छा है।"

माया ने अपनी हँसी को अपना घूँघट निकालते हुए छिपा लिया।

गयाप्रसाद ने लल्लन को गोद से उतारते हुए कहा—"यह तो तुम्हें मालूम ही है कि लखनऊ से कुछ क़ैदी आजन्म निर्वासित होकर आए हैं, उनमें एक बहुत ही सरल और उन्नत हृदय का युवक है। उसका नाम अंबिकाप्रसाद है। उसके ख़िलाफ़ सरकार के विरुद्ध बलवा करने का अपराध है। उस पर एक संतरी माइकेल नाम का बहुत चिढ़ा हुआ है। जब उसके हाथ खुजलाते हैं, वह उसे बुरी तरह से मारता है, जहाज पर एक मर्तबे मारा, और जब से यहाँ आया है, तब से तीन मर्तबे मार चुका है। आज भी मारा। अचानक मैं भी वहाँ पहुँच गया। मुझे देखकर उसने काल-कोठरी का हुक्म लिखवा लिया। मैं कोई विरोध नहीं कर सका। इसी से मेरा मन दुखी है।"

माया ने प्रश्न-भरी दृष्टि से पूछा—"तुम अफ़सर हो या वह?"

गयाप्रसाद ने सिर खुजलाते हुए कहा—"यह तो ठीक है, लेकिन अगर मैं कुछ भी उसके ख़िलाफ़ करूँ, तो जानती हो, रोटियों के लाले पड़ जायँगे! न-मालूम कितने दिनों के, नहीं, सालों के अवि-राम परिश्रम के बाद तो यह नौकरी मिली है, कब, जब यहाँ कोई

आनेवाला नहीं मिला; अब अगर उसी नौकरी में लात मार दूँ, तो फिर चमक-दमक सब हवा हो जायगी।

माया ने हँसते हुए पूछा—"अरे, मैंने तो साधारण प्रश्न पूछा, और तुम मेरे ऊपर जो तुम्हारे एहसान हैं, उन्हें गिनाने लगे। अच्छा, क्या तुमने उसे काल-कोठरी में भेज दिया ?"

गयाप्रसाद ने उत्तर दिया—"हाँ, वह काल-कोठरी में ही होगा।"

माया ने किंचित् उत्कंठित स्वर में पूछा—"अच्छा, वह युवक कैसा है ?"

गयाप्रसाद ने कहा—"अगर देखने की इच्छा हो, तो तुम्हें दिखा दूँगा। बड़ा शांत, आज्ञाकारी और सरल प्रकृति का है। (मुस्किराकर) और, तुम्हारा-जैसा सुंदर है।"

माया ने अपने स्वामी का हाथ छोड़ते हुए कहा—"तुम्हारी बातें कभी शैतानी से ख़ाली नहीं रहतीं।"

गयाप्रसाद ने माया का हाथ पकड़कर कहा—"नहीं, मैं तुम्हारी क़सम खाकर कहता हूँ कि वह युवक बिलकुल तुम्हारा ही जैसा है, वही आँख है, वही भोलापन है, ऐसे ही गाल हैं, और सबसे बड़ी बात यह कि जैसा तुम्हारे गाल पर यह काला लंबा दाग़ है, वैसा ही उसके भी है, अंतर केवल इतना है कि तुम्हारे दाहने है, और उसके बाएँ।"

माया की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। उसने गयाप्रसाद का हाथ पकड़कर कहा—"क्यों, क्या कहा ? जैसा मेरे दाहने गाल में है, वैसा ही उसके बाएँ में है ?"

गयाप्रसाद ने माया की ओर विस्मय से देखते हुए कहा—"हाँ, ऐसा ही है, क्यों ?"

माया ने उत्कंठित और प्रार्थना-भरे स्वर से कहा—"क्या तुम मुझे उन्हें दिखला सकोगे ?"

गयाप्रसाद ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—"हाँ। क्यों, क्या तुम उसको जानती हो ?"

माया ने गयाप्रसाद का हाथ छोड़ते हुए कहा—"हाँ, देखने पर शायद पहचान जाऊँ। क्या तुमने उनके बाप का नाम पूछा है ?"

गयाप्रसाद ने उत्तर दिया—"उसके बाप का नाम नहीं मालूम। उसने अपने बाप का नाम बतलाया है देश।"

माया ने धीमे स्वर में दुहराया—"देश।"

गयाप्रसाद ने हँसते हुए कहा—"अरे, यह कौन है, मेरा कोई प्रतिद्वंद्वी तो नहीं है ?"

माया ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"जाओ, तुम्हें हमेशा हँसी से काम ! अच्छा, उन्हें मुझे कब दिखाओगे ?"

गयाप्रसाद ने हँसते हुए कहा—"जब तक रिश्ता न बतलाओगी, मैं बतला नहीं सकता। क्या मैं मूर्ख हूँ, जो अपने हाथ से अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारूँ। अपनी जायदाद ख़ास को जायदाद मुश्तरका बनाऊँ, या बिलकुल खो दूँ।"

माया ने मलिन हँसी से धीरे-धीरे कहा—"वह नहीं हो सकते। उन्हें घर से ग़ायब हुए आज २५-२६ साल हो गए। पिताजी ने बहुत कोशिश की थी, लेकिन कोई पता नहीं लगा। उसी नाम का एक लड़का कुछ दिनों बाद, एक रेल-दुर्घटना में मारा गया था। पिताजी उसकी लाश देखने गए, मगर वह उस वक्त तक जला दिया गया था। एक पॉकेट-बुक मिली थी, जिसमें भैया का नाम लिखा था, लेकिन अक्षर उनके न थे। कौन जानता है, यह वही न हो। मेरी मा कहती थी कि तुम्हारा-जैसा मुख है, और मेरे दाहने गाल पर यह लहसुन है, और उनके बाएँ गाल पर था। हम दोनो भाई-बहनों में यही अंतर था, बाक़ी वह मेरा ही जैसा था। क्या यह सुरेश है ?"

गयाप्रसाद चुपचाप सुनते रहे, मानो माया उन्हीं से कह रही हो। उन्होंने उत्तर दिया—"हाँ, मुझे भी ऐसा मालूम होता है, शायद तुम्हारा खोया हुआ भाई है। अब मुझे निश्चय है, वह तुम्हारा भाई है।"

माया ने उनका हाथ पकड़कर उत्कंठित और विनम्र-पूर्ण स्वर में कहा—"हाँ, वह सुरेश है। अच्छा, क्या तुम अभी मुझे ले चल सकते हो?"

गयाप्रसाद ने उत्तर दिया—"हाँ। यद्यपि यह जेल के नियमों के विरुद्ध है, परंतु मेरे पास एक बहाना है। तुम चल सकती हो।"

माया बिजली की गति से पीछे लौटी, और बँगले में चली गई। गयाप्रसाद धूमिल आकाश की ओर देखने लगे।

(३)

मनुष्य घटना-चक्र का सबसे आसान शिकार है। आस्तिक तो उसे भाग्य या ईश्वर कहते हैं, और नास्तिक घटना-चक्र। मनुष्य के जीवन-सूत्र का एक सिरा किसी अदृश्य और सर्वशक्तिमान् के हाथ में रहता है, जिसके झटके पल-पल में हमारी जीवन-प्रगति को बदला करते हैं। यह क्यों और कैसे होता है, इसका उत्तर नहीं मिलता!

मुंशी हरसहाय लखनऊ के रहनेवाले हैं। इनके पिता नवाब वाजिदअली शाह की सरकार में एक उच्च पद पर नौकर थे, परंतु उनके राज्य का अंत होने से उनके ख़ानदान का भी भाग्य-सितारा अस्त हो गया। मुंशी हरसहाय के पिता मुंशी रामसहाय अपनी ज़मींदारी की देख-भाल करने लगे। परंतु उनकी दुर्दशा का यहीं अंत न था, और भी होना अवशेष था। संवत् १९१४ में भारत-व्यापी सिपाही-विद्रोह हुआ। मुंशी रामसहाय ने विद्रोह में भाग लिया। हालाँकि उनमें इतनी क्षमता न थी, और न साहस था,

परंतु तो भी दुर्भाग्य से उन्होंने उसमें भाग लिया। नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश राज्य होने पर अँगरेज़ सरकार ने उनकी ज़मींदारी ज़ब्त कर ली। मुंशी रामसहाय की जान तो बच गई, परंतु आजीविका का सहारा चला गया। अपनी बची-खुची पूँजी से वह गुज़र करने लगे। मुंशी रामसहाय ने अँगरेज़ी की उन्नति समझी, और वह हरसहाय को फ़ारसी छुड़ाकर अँगरेज़ी पढ़ाने लगे। मुंशी हरसहाय ने वकालत पास की, और लखनऊ में वकालत करने लगे।

नया ज़माना था नया क़ानून का जमाव था। मुंशी हरसहाय की वकालत चमक उठी। मुहल्लेवालों ने जाना कि 'चौधरी'-ख़ानदान की रूठी हुई भाग्य-लक्ष्मी फिर लौट आई। परंतु दुर्भाग्य भाग्य की ओट मुस्किरा रहा था। मुंशी हरसहाय ने अपनी कमाई पैदा होती हुई नई कंपनियों में लगा दी, वे कंपनियाँ धीरे-धीरे फ़ेल होने लगीं, और उनकी पूँजी निकल गई।

मुंशी हरसहाय के इसी काल में एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम उन्होंने अपनी पुरानी पद्धति मिटाकर नए ज़माने का मनोमोहक नाम सुरेशचंद्र रक्खा। पाँच बरस बाद एक लड़की पैदा हुई, जिसका नाम उन्होंने माया रक्खा।

मुंशी हरसहाय के दुर्भाग्य का यहीं अंत न था। लखनऊ में उस ज़माने में लड़के चुरानेवाले आए हुए थे, जिन्होंने एक तहलका मचा रक्खा था। भले-भले आदमियों के लड़के चोरी हो रहे थे। पुलिस हैरान थी, लेकिन पता नहीं लगता था। उसी गड़बड़ी में मुंशी हरसहाय का लड़का सप्तवर्षीय सुरेश भी ग़ायब हो गया। उन्होंने पुलिस में रिपोर्ट की, और ख़ुद भी बहुत पता लगाया, परंतु सब निष्फल हुआ। सुरेश का कोई पता न लगा।

माया को लेकर मुंशी हरसहाय ने सब्र किया, और अपना

उजड़ा हुआ संसार बसाने का आयोजन करने लगे। बाद में उनके कोई दूसरी संतान नहीं हुई। सुरेश के चोरी होने के बाद उनका उत्साह भग्न हो गया, और वह एकांत-वास में अपने दिन व्यतीत करने लगे।

माया का विवाह करना ज़रूरी था—बस यही एक उनके जीवन का कर्तव्य अवशेष था, जिसे उन्होंने यथासंभव शीघ्र ही कर देना चाहा। माया की आयु जब केवल ११ वर्ष की थी, तभी उसका विवाह बाबू गयाप्रसाद के साथ कर दिया गया। बाबू गयाप्रसाद होनहार मालूम पड़ते थे, हालाँकि उनके पिता की आर्थिक दशा बहुत हीन थी। मुंशी हरसहाय ही उनका सब ख़र्च देते रहे, और उनका संपर्क ससुराल से ऐसा था, जैसा मनुष्य का अपने घर से होता है।

जिस साल बाबू गयाप्रसाद ने एम्० ए० पास किया, उसी साल मुंशी हरसहाय इस दुनिया को छोड़कर चल दिए। उनकी पत्नी का यह वियोग असह्य हुआ, और एक महीने के अंदर-ही-अंदर वह भी अपने अनजान पथ की ओर चल दीं। माया के ऊपर वज्र गिर पड़ा, और गृहस्थी का कुल भार बाबू गयाप्रसाद के ऊपर आ गया। इधर बाबू गयाप्रसाद के पिता भी छ महीने के अंदर चल बसे। उनकी मा पहले ही मर चुकी थीं, जब उनकी आयु केवल तीन वर्ष की थी। थोड़े दिनों बाद बाबू गयाप्रसाद पर दूसरी गृहस्थी का भी भार आ पड़ा।

ज़माना दिन-पर-दिन बदल रहा था। यह वह ज़माना था, जब असहयोग-आंदोलन तेज़ी से चल रहा था। लोग सरकारी नौकरी से अलाहिदा हो रहे थे। बाबू गयाप्रसाद को मौक़ा मिला, और उन्होंने उससे फ़ायदा उठाया। उन्होंने सरकारी नौकरी को पसंद किया, और वह उन्हें अनायास मिल गई। सुदूर अंडमन में एक

क्लॉर्क की ज़रूरत थी। वेतन भी अच्छा था। उन्होंने अपना प्रार्थना-पत्र भेजा, और वह ले लिए गए। पेट के लिये उन्होंने स्वेच्छा-पूर्वक अपने को निर्वासित कर दिया।

आज दस साल से बाबू गयाप्रसाद अंडमन-द्वीप में काम कर रहे हैं। धीरे-धीरे उन्नति करते-करते वह जेल के असिस्टेंट जेलर हो गए। माया का जीवन भी आनंद से बीतने लगा। पति के सहवास ने पुरानी दुःखमय स्मृतियों का पृष्ठ बंद कर दिया। केवल कभी प्रसंग-वश अपने खोए हुए भाई की याद हो आती थी, और उस समय माया के हृदय में एक हूक उठती थी, क्योंकि पितृवंश के नाश का ख़याल हो आता था।

उस दिन बाबू गयाप्रसाद ने कहा कि अंबिकाप्रसाद का चेहरा बिलकुल माया-जैसा है, उसके गाल पर भी लहसन का चिह्न है, जिसके बारे में उसने अपनी मा और पिता से सुन रक्खा था, उसके मन में एक क्षीण आशा की ज्योति, दामिनी की भाँति, चमक गई। उसका हृदय धुकधुकाने लगा, और वह एक अद्भुत कंपन के साथ अपने पति को लेकर उसे देखने के लिये चल दी।

(२)

रात्रि अपने श्यामल वस्त्र से संसार को ढकने का यत्न कर रही थी, और माया अपने साथ एक आशाओं तथा निराशाओं का छोटा-सा बखेड़ा लिए हुए जा रही थी।

जेल का द्वार बंद हो चुका था। बाबू गयाप्रसाद को देखकर संतरी ने सलाम किया, और अदब से एक तरफ़ खड़ा हो गया।

बाबू गयाप्रसाद ने पूछा—"क्या डॉक्टर ने आकर नंबर ३२४ को देखा?"

संतरी ने जवाब दिया—"नहीं, अभी नहीं। डॉक्टर साहब की लड़की बीमार है, जिससे वह नहीं आ सके।"

माया ने बाबू गयाप्रसाद से पूछा—"क्या डॉक्टर साहब सरकारी नौकर नहीं हैं?"

बाबू गयाप्रसाद ने माया का हाथ दबाते हुए कहा—"चुप रहो। वह अँगरेज़ है, हम ग़ुलाम हैं! ग़ुलामों के लिये संसार का तुच्छ-से-तुच्छ पदार्थ भी एक अनमोल वस्तु है।"

अँगरेज़ संतरी नहीं समझा।

बाबू गयाप्रसाद ने फिर संतरी से कहा—"खिड़की खोलो, मैं अंदर जाना चाहता हूँ।"

संतरी ने खिड़की खोल दी।

बाबू गयाप्रसाद और माया, दोनो उत्कंठित हृदय से जेल के अंदर चले गए। खिड़की फिर बंद हो गई।

जेल के एक शून्य स्थान की ओर 'काल-कोठरियाँ' बनी हुई थीं। उसी एक में अंबिकाप्रसाद बंद कर दिए गए थे।

संतरी को बुलाकर बाबू गयाप्रसाद ने रोशनी लाने को कहा। संतरी सिक्ख सिपाही था, जो योरपीय महायुद्ध से अवकाश ग्रहण कर अपने जीवन के अंतिम दिवस व्यतीत कर रहा था।

संतरी लालटेन ले आया, और अपनी जेब से चाबियों का गुच्छा निकालकर कोठरी का दरवाज़ा खोलने लगा। माया का हृदय उछलने लगा।

संतरी ने लालटेन ऊँची की। क्षीण प्रकाश उस अंधकार को और गाढ़तम दिखाने लगा।

संतरी के चेहरे पर एक भय का चिह्न प्रकट होने लगा। उसने भर्राई हुई आवाज़ से कहा—"अरे, ग़ज़ब हो गया! यह कैसे हुआ?" दूसरे ही क्षण बाबू गयाप्रसाद उछलकर उस झूलती हुई लाश के समीप पहुँच गए। उन्होंने देखा, अंबिकाप्रसाद का शव एक भयानक शून्य-दृष्टि से उनकी ओर देख रहा था। इसी समय

माया भी वहाँ पहुँच गई थी। माया की चेतना तिरोहित-सी हो चुकी थी। दूसरे ही क्षण माया उस शव से लिपट गई और चिल्ला उठी—"सुरेश भैया!"

सुरेश भैया की लाश एक भयानक मुस्किराहट से हिल उठी।

(४)

दूसरे दिन जेल के अंदर ही अंबिकाप्रसाद को जला दिया गया। बाबू गयाप्रसाद ने बहुत कोशिश की कि वह कम-से-कम शव का उचित सत्कार कर सकें, परंतु गवर्नर ने ऐसा करने की आज्ञा नहीं दी।

अंबिकाप्रसाद के साथियों को तब पता लगा, जब उनकी लाश जलकर पंचतत्त्वों में मिल चुकी थी। उन्होंने उस दिन हड़ताल कर दी, और काम करने से इनकार कर दिया। सरकार ने भी कोई गड़-बड़ी नहीं की। शांति से उसने उस दिन काम लिया।

उसी दिन संध्या को माया छोटेलाल की कोठरी में गई। छोटे-लाल एक भारतीय रमणी को देखकर आदर के साथ उठ खड़ा हुआ, और उत्सुकता-पूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखने लगा। माया ने एक स्टूल पर बैठते हुए कहा—"मैं आपसे उस व्यक्ति का परिचय पूछने आई हूँ, जिसके लिये आपने आज हड़ताल कर रक्खी है।"

छोटेलाल ने विचित्र दृष्टि से माया की ओर देखते हुए कहा—"क्या श्रीमतीजी अंबिका के संबंध में जानना चाहती हैं?"

माया ने सिर हिलाकर कहा—"हाँ।"

छोटेलाल ने एक लंबी साँस लेकर कहा—"उस वीरात्मा का परिचय और क्या हो सकता है। वह एक देश-सेवक था, और देश के लिये मर गया। इस नरकीय जीवन से उसकी आत्महत्या कहीं श्रेयस्कर थी। अंबिका हमारा नेता था, और हम उसके अनुगामी थे।"

माया ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर पूछा—"वह कहाँ के रहने-वाले थे, और किसके पुत्र थे ?"

माया का हृदय धड़क रहा था, और अश्रु आँखों के बाहर निकलने का उपक्रम कर रहे थे।

छोटेलाल ने थोड़ी देर तक माया की ओर देखकर कहा—"क्यों देवी, यह आप क्यों पूछती हैं ?"

माया ने अपने रूमाल से उमड़ते हुए आँसुओं को दबाने का प्रयत्न करते हुए अवरुद्ध कंठ से कहा—"इसलिये कि वह मेरे भाई थे।"

छोटेलाल ने विस्फारित नेत्रों से देखते हुए कहा—"तुम्हारे भाई, नहीं, अंबिका का संसार में कोई नहीं था, आज तक उसने किसी स्त्री से बात नहीं की। उसका कोई संबंधी कहीं नहीं था, केवल देश ही, भारतमाता ही, से उसका संपर्क था।"

फिर थोड़ी देर तक माया की ओर देखकर कहा—"देवी, क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप कौन हैं ?"

माया ने अश्रु पोछते हुए कहा—"हाँ, अपना परिचय मैं स्वयं देती हूँ। मैं लखनऊ के बाबू हरसहाय की लड़की और यहाँ के असिस्टेंट जेल-सुपरिंटेंडेंट की पत्नी हूँ। जब मैं दो बरस की थी, लखनऊ में लड़के चुरानेवाले आए हुए थे, जो मेरे भाई को चुरा ले गए। उसका नाम सुरेशचंद्र था। तब से आज तक उसका पता नहीं लगा। मेरी मा कहती थी कि उसका रंग-रूप मेरा ही जैसा था, फ़र्क़ केवल इतना था कि उसके बाएँ गाल पर लहसन का चिह्न था, और मेरे दाहने।"

छोटेलाल ने आश्चर्य से माया की ओर देखा, और हाथ जोड़-कर कहा—"हाँ देवी, वह आपका भाई था। उसे चुराकर लाने-वाला मैं ही था। हम पाँच व्यक्तियों ने एक संस्था क़ायम की थी,

और उसमें हमने यह निश्चय किया था कि कुछ ऐसे बालक लाए जायँ, और उनको ऐसी शिक्षा दी जाय, जो देश को ही अपना सर्वस्व समझें, जिनके जीवन में कोई बंधन न रहे। इसीलिये हम लोगों ने लड़कों के चुराने का व्यवसाय किया, क्योंकि इसके अलावा और कोई मार्ग नहीं था, जिससे हम अपने उद्देश्य में सफल होते। हम लोग भले-भले आदमियों के लड़के चुरा ले गए, और उन्हें अपने नए ढंग से शिक्षित करने का आयोजन करने लगे। जैसा फल हमने विचारा था, वैसा ही हुआ। अंबिका हम सबमें श्रेष्ठ निकला, और उसी ने हमारा नेतृत्व ग्रहण किया। हाँ देवीजी, वह महान् आत्मा आपका भाई था।"

यह कहकर छोटेलाल रोने लगे, और माया अचेत होकर गिर पड़ी!

एक घूँट जल

(१)

२५ ऑक्टोबर, सन् १९३९ के ब्राह्म मुहूर्त में हमारी सेना के प्रस्थान का बैंड बज उठा। उठती हुई स्वरों की लहरावलि अंतरिक्ष से टकराकर हमें जन्मभूमि से बिदा देने के लिये संकेत करने लगी। हमारे हृदय का कंपन वाद्य-ध्वनि के साथ ताल दे रहा था, और सैनिक जीवन के प्रति उदासीनता सजग होकर मोह और ममत्व का आकर्षण-जाल बुनने में व्यस्त हो रही थी। उस दिन मालूम हुआ कि मैं अपनी झोपड़ी और पद्म-प्रताड़ित जन्मभूमि की धूलि को कितना प्यार करता हूँ।

आँखों से आँसू निकलना भीरुता का चिह्न जानकर रोया तो नहीं, किंतु हृदय के उस उच्छ्वास का गला घोटना भी असंभव ही प्रतीत हुआ। वृद्ध माता की करुणा-मूर्ति साकार होकर मन में ममत्व प्रवाहित करने लगी, किंतु बग़ल में ही अवकाश-प्राप्त, अद्वितीय सैनिक तथा कैप्टन पिता की साक्षात् प्रतिमा उस ग्लानि को धोकर साफ़ करने और पुरखों की यश-चादर को उसी प्रकार धवल बनाए रखने के लिये स्फूर्तिमय उत्तेजना भरने लगी। मैं सँभलकर प्रस्थान का गीत गुनगुनाने लगा। मेरी नसों में अतीत की गौरव-गरिमा रक्त में मिलकर समारोह के साथ उमड़ने लगी। किंतु न-मालूम कब मेरा मन उस स्वर्ण-जाल से मुक्त होकर षोडशवर्षीया, नव-विवाहिता पत्नी की विरह-विधुर, म्लान आँखों के उस पार छिपे हुए अगाध स्नेह-सागर में डूबने-उतराने लगा। रंभा से इस जीवन

में पुन: भेंट होगी या नहीं, यह प्रश्न बार-बार मेरा मन मेरे आकुल हृदय से करने लगा।

इसके बाद बिदा का वह दृश्य मेरे मानस-पटल पर अपनी प्रतिच्छाप छोड़ने लगा, जब मैं अभी दो दिन पहले ही उसे उस छोटे-से झोपड़े में रोने के लिये छोड़ आया था, जहाँ इस जीवन में पदार्पण करना शायद मेरे लिये असंभव होगा। रोते-रोते उसकी हिचकियाँ बँध गई थीं, और वह इतनी कातर हो रही थी कि आत्म-घात करने पर उद्यत हो गई थी। मैंने न-मालूम कितना झूठ बोल-कर उसे निःशंक आश्वासन प्रदान किया था। मैंने उससे प्रतिज्ञा की थी कि मैं फ़ौज की नौकरी से इस्तीफ़ा देकर शीघ्र आ जाऊँगा, किंतु वह तो एक प्रवंचना थी। जब मैं अपने वृद्ध पिता से बिदा होने गया, तो उन्होंने कहा था—"तुम सैनिकों के वंश में उत्पन्न हुए हो, हमारे कुल-देवता तुम्हारी रक्षा करेंगे। तुम विजयी होकर वापस आओ, मैं तब तक उस दिन की प्रतीक्षा करूँगा। अपनी स्त्री के मोह-जाल में आबद्ध होकर कुल का गौरव मत डुबा देना। मैंने पिछले महायुद्ध में अपनी वंश-मर्यादा में आशातीत वृद्धि की है। यह मोह क्षणिक है—जब तक इस झोपड़ी के सामने हो, तभी तक है, फिर युद्ध में! युद्ध-क्षेत्र के सुख के समक्ष इस कुटीर का ध्यान करोगे, मुझे विश्वास नहीं होता।"

कहते-कहते वह रुककर विश्राम करने लगे।

थोड़ी देर बाद मुझे एक पैकेट देते हुए कहा—"इसे अवकाश के समय युद्ध-क्षेत्र में देखना। वापस आते वक़्त यदि इटली से लौटो, तो इसमें अंकित पते पर पहुँचकर उससे मिलना, जिसका परिचय इसमें लिपि-बद्ध है।"

मैंने अश्रु-बद्ध नेत्रों से निर्वाक् उनका वह पैकेट अपने किटबैग में डाल लिया, और पीछे घसीटते हुए क़दमों से झेलम-छावनी को

चल दिया। आज भी उस दिन की स्मृति मेरा उत्साह भंग कर रही थी।

मेरा मन प्रश्न करने लगा—इस देश का स्वर्णमय प्रातःकाल क्या पुनः देखने को मिलेगा? इन परिचित पक्षियों का कलरव क्या फिर इस जीवन में सुनने को मिलेगा? मन तो कह रहा था, "यह सब अंतिम है।" न-मालूम कैसा इनके प्रति मोह पैदा हो रहा था।

आकाश बैंड के कलरव से मुखरित हो उठा। झूम-झूमकर सैनिक प्रस्थान-गीत गाने लगे। मैंने क्षुब्ध होकर कहा—"इनके घर नहीं, ममत्व नहीं, प्रेम नहीं, और मानवता नहीं। ये पाषाण की भाँति निर्बंध, निर्जीव, और निर्मम हैं!" किंतु मेरे उन उद्‌गारों को किसी ने नहीं सुना, और न किसी ने उत्तर ही दिया।

कमांडर ने आगे आकर जोश के साथ कहा—"यदि तुम में कोई कापुरुष हो, तो अच्छा है, यहीं मुँह काला करे।"

फ़ौज में सन्नाटा छा गया। सब एक दूसरे का मुँह देखने और पूछने लगे—"क्या तुम कापुरुष हो?"

उत्तर कोई न दे रहा था, प्रश्न प्रश्न ही रहा।

मेरे मन ने पूछा—"क्या तुम कापुरुष हो?"

मन विहँस पड़ा उपेक्षा से। फिर कहा—"स्वदेश और बंधु-बांधवों के प्रति स्नेहमय बंधन का नाम यदि भीरुता है, तो फिर मैं अवश्य ही कापुरुष हूँ। मृत्यु के मुख में आने से कोई उलझन पैदा नहीं होती, किंतु...............!" आगे मन निर्वाक् हो गया। कोई अतीत की गुत्थी सुलझाने लगा।

मैं अपनी उधेड़-बुन में था कि 'मार्च' बोल दिया गया। पैर स्वतः उठने लगे। मन का कंपन भी क्षीण होने लगा। अश्रु भी सूखने लगे, और नवस्फूर्ति भरने लगी। मैं बार-बार कहने लगा—

"वह तो एक कमज़ोरी थी, और कुछ नहीं। मैं कापुरुष हरगिज़ नहीं।"

थोड़ी देर में हम झेलम-छावनी के स्टेशन पर ठहरी हुई एक स्पेशल ट्रेन में बैठ गए। वह एक अद्भुत दृश्य था। उस चहल-पहल में मैं भी अपने मन का विराग कुछ भूल-सा गया। युद्ध-क्षेत्र की कल्पना में व्यस्त हो गया। सैनिक का जीवन कितने क्षुद्र और विशाल हेर-फेर के समूह का जीवन है? वह कितना रहस्यमय है, और कितना परिचित, इसका अनुमान मुझे उस दिन हुआ।

तीसरे दिन मैं असंख्य आशाओं और निराशाओं का समूह लेकर 'मेक्रेयर' जहाज़ पर बैठ मिस्र के लिये रवाना हो गया। मेरी भाग्य-वैजयंती घटनाओं के प्रवाह में स्वयं उलझने और सुलझने लगी।

(२)

मिस्र के पुरातन समाधि-मंदिरों और पिरामिडों के प्रति मुझमें अनंत श्रद्धा उत्पन्न हुई। उनके प्राचीन इतिहास ने मेरे मन में नवीन उत्तेजना भर दी। मैं वहाँ रहकर अपनी जन्मभूमि का सुख अनुभव करने लगा। इतना आदर, स्नेह और प्रेम वहाँ के निवासियों से मिला, जिसने सत्य ही मेरे घर की ममता को मूर्च्छित कर दिया।

पिछले महायुद्ध की गति-विधि में पूर्ण रूप से परिवर्तन हो चुका था। मुझे भी अन्य सैनिकों की भाँति वायुयान के संचालन की शिक्षा दी जाने लगी। नवीन पद्धति से निर्माण किए हुए विशाल टैंकों के परिचालन का भी भार आ पड़ा, और अदम्य उत्साह के साथ मैं सीखने लगा। छ इंच मोटे लोहे से मंडित टैंक दैत्य की भाँति शत्रु-सेना में प्रवेश कर जाते, और हम लोग उन्हें क्षण-मात्र में पराजित कर देते।

एक साल के कठिन परिश्रम के बाद मैं अपनी छोटी-सी टुकड़ी

का अधिनायक बना दिया गया। मेरी युद्ध-कुशलता ने मेरे अफ़सरों का मन मुग्ध कर दिया, और वे मेरे प्रति अपनी दयालुता और सहृदयता का परिचय देने लगे।

स्वदेश से प्रस्थान होने के ठीक एक वर्ष बाद लीबिया-प्रांत में हमारी सेना का मुक़ाबला शत्रु-सेना से हुआ। वही २९ ऑक्टोबर का प्रातःकाल था। हमारी वायु-सेना के लिये यह हुक्म था कि वह उषाकाल की वेला में शत्रु-सेना पर आक्रमण करे। मैं अपना वायु-यान लेकर उत्साह के साथ आकाशगामी हुआ। हम लोग भिन्न-भिन्न गति से जा रहे थे। इधर स्थल-मार्ग से बेनग़ाज़ी पर हमारी सेना आक्रमण करने जा रही थी। हमारे कमांडर का यह विचार था कि हम स्थल और आकाश-मार्ग से आक्रमण करके शत्रु को पराभूत करें।

मैं एकाकी स्थल से १९,००० फ़ीट ऊँचा उड़ रहा था। चारो ओर शून्य था। बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े हमसे बहुत नीचे अधर में मँडरा रहे थे। पूर्व दिशा से सूर्य की लालिमा हमें मार्ग प्रदर्शित करने लगी। मेरे पास बहुत से भयंकर बम थे, और वायुयान के चारो ओर मशीन-गनें लगी थीं। किंचित् काल में ही हम शत्रु-सेना पर पहुँच गए।

जब हमारे वायुयानों के बम उन पर गिरे, तब उन्हें हमारे आक्रमण का ध्यान हुआ। शत्रु-सेना के वायुयान तुरंत ही आकाश में उड़ने लगे, और उन्होंने हमारी गति-विधि रोक दी। मैंने एक वायुयान पर आक्रमण किया। हमारी मशीनगनें गोलियों की वर्षा करने में संलग्न थीं, और मैं भी अपनी शक्तिशालिनी बंदूक़ से शत्रु-पक्षीय पाइलट को घायल करने की चेष्टा कर रहा था। वह इटा-लियन लड़ाका अपनी घात में था। मैंने कौशल से काम लेना विचारा, और उसके समीप आते ही मैंने अपने वायुयान का एंजिन बंद कर दिया। भीषण वेग से मेरा यान पृथ्वी की ओर गिरने

लगा। मैं पूर्ण रूप से सावधान था। शत्रु को विश्वास हो गया कि मैं घायल हो गया हूँ। वह निश्चिंत होकर दूसरे यानों पर आक्रमण करने लगा। पृथ्वीतल से लगभग ७०० फ़ीट पर मैंने अपना यान पुनः जागरित किया, और वेग से ऊपर की ओर उठा। शत्रु निर्भीक होकर उड़ रहा था। क्षण-मात्र में मैं उसके समीप पहुँच गया। मेरी मशीनगनें पुनः जीवित होकर गोलियाँ बरसाने लगीं। मैंने उस पर आक्रमण किया। शत्रु-पक्षीय उड़ाका सहसा प्रत्याक्रमण नहीं कर सका। मेरी अचूक गोलियों ने उसे घायल कर दिया। दूरबीन से मैंने देखा, मेरी गोली उसके कंधे पर लगी है। उसके यान को छिन्न-भिन्न करना केवल कुछ क्षणों का काम था। शक्तिशालिनी गोलियों के प्रहार से उसका एंजिन सशब्द फट-कर निर्जीव हो गया। शत्रु पराभूत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। मैं भी उसके पीछे-पीछे उतर रहा था।

आकाश में तुमुल युद्ध हो रहा था, और पृथ्वीतल पर भी हमारी विजयिनी सेना शत्रुओं को पद-पद पर हरा रही थी। थोड़े ही परिश्रम से बेनग़ाज़ी हमारे हाथ में आ गया। मैंने जिस शत्रु उड़ाके को परास्त कर नीचे गिराया था, उसके समीप ही मैं उतरा। इस समय तक एंजिन में आग लग गई थी, और ऊँची-ऊँची लपटें उठकर उसे भस्मीभूत करने में लीन थीं। अभागा उड़ाका शीघ्र ही उस अग्नि का आहार होनेवाला था। यद्यपि शत्रु के साथ किंचित् दया प्रदर्शित न करने का आदेश हमें था, किंतु परंपरा का शौर्य ऐसा अमानुषिक होने के लिये धिक्कार रहा था। मैं सब कुछ भूल-कर उस उड़ाके की जीवन-रक्षा के लिये अग्रसर हुआ। उसे निका-लते-निकालते उसके पैराशूट में आग लग ही गई। पैराशूट के बंधन काटकर उसे बाहर घसीटा। उसके कंधे से, जहाँ मेरी गोली लगी थी, रक्त निकल रहा था, और वह अचेत था।

वह नवयुवक था। उसकी अवस्था लगभग २४-२५ वर्ष की होगी। मेरे ही जैसा हृष्ट-पुष्ट और दीर्घकाय। उसके मुख की गढ़न मेरे तद्रूप थी। उसके सिर के केश मेरे ही-जैसे घुँघराले थे। उसका उज्ज्वल वर्ण कुछ मेरे-से खुलता हुआ था। उसे मैं इस प्रकार देख रहा था, जैसे वह मेरा संबंधी हो। मेरा हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था।

इतनी देर में वह वायुयान जलकर कोयला हो गया था, और मैं उसे अपने वायुयान में डालकर आकाशगामी हुआ। ऊपर पहुँचकर देखा, बेनग़ाज़ी पर 'यूनियन जैक' फहरा रहा था। वह हमारी विजय का दिन था। आकाश का उन्मुक्त पवन हमारे झंडे से अठखेलियाँ कर रहा था। मैं विजयी था। एक बार फिर घर का स्मरण हो आया। मेरे मन ने प्रश्न किया—"इस अभागे इटालियन युवक का क्या होगा?" इस प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न करने लगा।

(२)

शत्रु को शिविर में आश्रय देना बड़ा जुर्म है, जिसका दंड केवल मृत्यु है। मैं इटालियन युवक की ओर इतना आकृष्ट क्यों हुआ, इसका उत्तर नहीं दे सकता। मैं इस समय कुछ ऐसे विचारों में मग्न उड़ रहा था, जिसे किसी हद तक पागलपन कहा जा सकता है। मैं कहाँ और किस ओर जा रहा हूँ, कुछ ध्यान न था। सहसा चेतना जाग्रत् होते ही दिग्यंत्र की ओर देखा, तो मालूम हुआ, मैं बेनग़ाज़ी से दक्षिण की ओर उड़ रहा हूँ। पृथ्वी-तल पर केवल बालुकामय बवंडर दृष्टिगोचर हो रहे थे। संभवतः हम उस स्थान के समीप ही थे, जिसे 'लीबिया की मृत्यु-घाटी' कहा जाता है। मेरा मन आशंकित होकर चारो ओर देखने लगा। पेट्रोल-टैंक की ओर देखा, तो ज्ञात हुआ, एक घंटा उड़ने के लिये पेट्रोल अवशेष है।

'रिज़र्व' को शामिल कर मैं केवल दो घंटे आकाश में रह सकता था। मैं इस समय पृथ्वी-तल से पचीस हज़ार फ़ीट ऊँचा उड़ रहा था। मेरी बुद्धि ने आदेश दिया—"नीचे उतरकर निश्चय करो, तुम कहाँ हो।" मैंने तत्काल आज्ञा पालन की।

चारो ओर बालुकामय प्रदेश था। कहीं भी एक वृक्ष दृष्टिगोचर न होता था। मैं उतरने का स्थान खोजने लगा। समतल भूमि देखकर मैं नीचे उतरा। आकाश में सूर्य की किरणें प्रखरतर होती जा रही थीं, और इस समय वहाँ ठहरना किसी प्रकार युक्ति-संगत नहीं था। परंतु फिर भी वहाँ ठहरकर कुछ खाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। मैं वहाँ ठहर गया।

अपने यान की छाया में मैं बैठ गया। मेरा मन बहुत उद्विग्न था। जेब से सिगरेट निकालकर पीने लगा, जिससे मेरी सुप्त चेतना सजग होकर अपना कर्तव्य विचारने लगी। एक शत्रु को लेकर मैं अचानक अनजान प्रदेश में आ गया था। मैंने उसे बम ले जानेवाले रिक्त स्थान में डाल दिया था। उसे उठाकर बाहर निकाला। मेरे मन ने कहा—"तुम्हारे मार्ग भूलने का कारण यही है।" मैं विचारने लगा, क्या यह सत्य है?

जीवन और मरण के कूलों पर विचरण करनेवाले सैनिक का जीवन किसी हद तक असंदिग्ध रहता है, और वह शकुनों पर विश्वास करने के लिये बाध्य हो जाता है। मेरा मन विवश होकर विश्वास कर रहा था कि मेरी इस विपत्ति का कारण वह इटालियन सैनिक ही है। मैंने उसे उसी स्थान पर छोड़ देने का निश्चय किया। मेरे मन ने कहा—"इसका जीवित रहना असंभव जानकर भी तू क्यों अपने साथ लाया, और इस विपत्ति में फँसा?"

आवेश में मैंने उसका हाथ पकड़कर खींचा। मृतप्राय युवक अचेत था। सहसा मेरी दृष्टि उसके हाथ पर गुदे हुए शब्दों पर पड़ी; नीले

अक्षरों में लिखा था—'जूलियस झंडासिंह'। मेरी दृष्टि उन दो शब्दों पर स्थिर हो गई। 'झंडासिंह' मेरे पिता का नाम था। मैं तीचण दृष्टि से उस नवयुवक की ओर देखने लगा। मेरे हृदय की जाग्रत् विवशता का क्रोध शांत पड़ रहा था। अपने पिता के सैनिक जीवन की बातें याद आने लगीं। उनका दिया हुआ प्रस्थान-समय का वह पुलिंदा मेरे किटबैग में ज्यों-का-त्यों था, जिसे मैंने अभी तक खोला ही न था। उस युवक को वहीं छोड़कर यान के पॉकेट से मैंने उसे निकाला, और पागल की उद्दाम शीघ्रता से खोलकर देखने लगा कि उसमें कौन-सा रहस्य छिपा है।

उसमें एक पश्चिमीय महिला और मेरे पिता का सम्मिलित चित्र था। पिता की गोद में एक चार या पाँच वर्ष का बालक बैठा था, और महिला पिता के समीप बैठी थी। पिताजी के हाथ का लिखा हुआ परिचय भी था—"तुम्हारी विमाता और सौतेला भाई।"

मेरे मन ने प्रश्न किया—"क्या यह इटालियन युवक ही मेरा सौतेला भाई है?" विकल्प ने उत्तर दिया—"यह पागल का प्रलाप है!" किंतु मन ने कहा—"तुम्हारे पिता के कई वर्ष इटाली-प्रांत में, गत महायुद्ध के अवसर पर, व्यतीत हुए थे, और यह स्वीकार भी किया था कि उन्होंने अपना एक विवाह इस देश की महिला से किया था, जिससे संतान भी पैदा हुई थी, किंतु स्वदेश लौटते समय उस महिला ने अपनी संपत्ति और अपना देश छोड़कर चलना अस्वीकार किया, इसलिये पिता केवल उसकी स्मृति लेकर ही संतुष्ट हुए और स्वदेश लौटे थे।"

चित्र के पीछे लिखा था—"तुम्हारी विमाता का नाम 'जूलियान एडाल्फ़स' है, और भाई का 'जूलियस'। निवास-स्थान 'मिलान नगर'। उसकी पैत्रिक ज़मींदारी 'लोमबर्दी का प्रसिद्ध गाँव' था। वह वाइकाउंट 'सिज़र एडाल्फ़स' की एकमात्र संतान है। मेरा

आदेश है—"यदि अवकाश मिले, तो जाकर अवश्य मिलना।"

मैं वारंवार चित्र और अर्धमृत नवयुवक की ओर देखने लगा। सूर्य की प्रखरतर होती हुई किरणें अतीत का धूमिलपन परिष्कृत करने लगीं।

(४)

मेरे कठिन परिश्रम से उसकी चेतना जगी। मेरी जल की बोतल लगभग खाली हो गई थी, कुछ बूँट जल अवशेष था। नवयुवक विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखने लगा।

इटालियन भाषा में मैंने पूछा—"तुम कौन हो? क्या तुम संक्षेप में अपना परिचय दोगे?"

मिस्र में रहते हुए हमें इटालियन-भाषा सिखा दी गई थी, क्योंकि हमारे प्रतिद्वंद्वी इटालियन ही थे।

नवयुवक ने आँखें बंद कर लीं, और धीमे स्वर में कहा—"जल।"

मैंने जल की जगह ब्रांडी की शीशी उसके मुँह में उँडेल दी। थोड़ी देर की प्रतीक्षा के बाद उसकी उत्तेजना प्रकट होने लगी। उसने प्रश्न किया—"तुम कौन हो? शत्रु या मित्र?"

मैं विचारने लगा, क्या कहूँ? सत्य या असत्य?

मैंने कहा—"दोनो ही।"

उसने चकित होकर देखा, और कहा—"झूठ। मुझे मालूम हो गया, तुम शत्रु हो। मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता।"

मेरे पास कोई दूसरा उपाय न था। वह भी नेत्र बंद कर चुपचाप विचारने लगा।

मैंने वह चित्र उसे दिखलाते हुए पूछा—"आँखें खोलकर देखो, क्या इस चित्र को पहचानते हो?"

युवक ने चित्र देखा। देखते ही उसकी आँखों से ज्वाला निकलने

लगी। उत्तेजना से वह काँपने लगा, और उसे छीनने का उपक्रम करने लगा। मैंने वह चित्र उसे दे दिया। उसने चित्र में अंकित मेरी विमाता और मेरे पिता को चूमा। मेरी आँखों के सामने मेरी आशंका सत्य होकर नग्न रूप से नाचने लगी। मन ने बड़े अधीर स्वर में कहा—"यही तेरा सौतेला भाई है ?"

उस युवक ने पूछा—"तुम्हें यह कहाँ मिला ? मेरी प्रतिलिपि तो मिलान में, जहाँ मेरा घर है, पड़ी हुई है, जिसे मेरी माता नित्य ही देखकर कहा करती थी कि यह तेरा पिता है, और यह तेरा चित्र है, जब तू चार वर्ष का था।"

सत्य धीरे-धीरे स्वयं प्रकट हो रहा था।

वह युवक कह रहा था—"मेरा पिता भारतीय सेना का एक उच्च-पदस्थ सैनिक था। उसका प्रेम मेरी माता के साथ उस समय हुआ, जब वह नर्स होकर फ्रांस के पेरिस-नगर के अस्पताल में काम कर रही थी, और वहाँ घायल होकर मेरा पिता आया था। इसके बाद दोनो ने विवाह कर लिया, जिससे मैं पैदा हुआ। मेरा पिता आकर मेरी ज़मींदारी में रहने लगा। यद्यपि मेरी मा ने उसे अपना सर्वस्व भेंट कर दिया था, परंतु मेरा पिता कृतघ्न था, जैसे प्रायः भारतीय हुआ करते हैं; वह निर्मोही मुझे और मेरी माता को छोड़कर स्वदेश चला गया। जब से गया, हमारी कोई ख़बर नहीं ली। मेरे मन में अपने पिता को देखने की उत्कट लालसा थी, किंतु अब............?"

कहते-कहते युवक चुप हो गया। उसके नेत्र भीगे हुए थे, जिससे कभी-कभी एक बूँद निकलकर, गालों से ढुलकती हुई उस तृषाकुल बालुका-पुंज में विलीन होकर अपनी स्मृति के चिह्न किंचित् काल के लिये जीवित रखती।

मैंने उसके समीप बैठते हुए कहा—"युवक, मैं तेरा शत्रु नहीं, मित्र हूँ, और तेरा भाई हूँ।"

मेरा कंठ अवरुद्ध हो गया।

युवक ने चकित होकर मेरी ओर देखा। मैं आवेग को दमन न कर सका, और उसके धड़कते हुए वक्षःस्थल पर गिरकर रोने लगा।

युवक घबराकर, दोनो हाथों से मेरा सिर उठाकर मेरे नेत्रों की ज्योति में मेरा या अपना अस्तित्व देखने लगा।

मैंने उसे चूमते हुए कहा—"जूलियस, तू मेरा भाई है। झंडासिंह मेरे पिता का नाम है, और यह उनका दिया हुआ परिचय-चित्र है। उनका आदेश था, मैं तुमसे मिलूँ, और अपनी माता के चरणों पर श्रद्धांजलि भेंट करूँ। मैं अब कैसे अपनी मा को मुँह दिखाऊँगा, और कहूँगा कि अपने भाई को मारनेवाला मैं गंडासिंह तुम्हारा सौतेला लड़का हूँ।"

जूलियस ने दोनो हाथों से मुझे अपने हृदय से लगा लिया। मैं भी उससे चिपटकर उसके हृदय की गति सुनने का प्रयत्न करने लगा, जो इस समय बड़े वेग से उद्वेलित हो रहा था।

जूलियस ने धीमे स्वर में कहा—"भाई, मेरे पिता से कहना, 'तुम्हारा निरपराध पुत्र जूलियस तुम्हें याद करता हुआ मरा था।' मैं तुम्हें अपनी माता का अगाध प्यार सौंपता हूँ। भाई, एक घूँट जल।"

मैं तुरंत जल की बोतल खोलकर उसके खुले हुए मुँह में डालने लगा, किंतु जल अंदर न जाकर बाहर गिरने लगा।

मैंने शंकित स्वर से कहा—"भाई जूलियस, जल क्यों नहीं पीते?"

जूलियस की आँखों की गति निश्चल थी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

मैंने उसे हिलाते हुए कहा, किंतु फिर भी कोई उत्तर न था। उसके हृदय की गति सुनने का प्रयत्न करने लगा, किंतु वह तो सदा के लिये बंद हो चुकी थी। जूलियस के प्राण मुक्त होकर उस बालुकामय प्रदेश पर बिना वायुयान के उड़ने लगे थे।

मैं उसके वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ अब भी वह अंतिम मृदुल शब्द सुन रहा था—"भाई, एक घूँट जल।"

यह क्या ?

(१)

मेरे बाप ने मेरा नाम क्या रक्खा था, यह मैं नहीं जानता; लेकिन मेरा प्रचलित नाम सैमुएल जॉनसन है। मेरी जाति क्या है, यह भी मुझे नहीं मालूम, परंतु आजकल मैं ईसाई हूँ, और ईसामसीह को ईश्वर का पुत्र मानता हूँ। मैं किस देश को अपनी मातृभूमि समझूँ, यह ज्ञान मुझे नहीं है, किंतु इँगलैंड को अपनी जन्म-भूमि बताने में मुझे गौरव और आनंद होता है। मेरा गोरा रंग और लालोलाल चेहरा देखकर कोई नहीं कह सकता कि मैं अँगरेज़ नहीं हूँ। जब मैं अपनी छोटी-सी फ़ौज, जिसका मैं कैप्टन हूँ, लेकर ख़ूँख़्वार, नंगे और वहशी अफ़्रीदियों की जन्म-भूमि में उनका शिकार करने निकलता हूँ, तो आनंद से, उत्साह से, कह उठता हूँ—

> "Rule Britainia, Rule the waves
> Britons shallnever be slaves."

मुझे याद नहीं कि कभी मैंने अपने पिता या माता को देखा है। पिता के नाते यदि मैं किसी को जानता हूँ, तो पादरी लैटीमर साहब हैं, जिनकी स्मृति अभी तक हृदय-पटल पर अंकित है। वह दिन मुझे अच्छी तरह याद है, जब मैं खेलता हुआ पादरी साहब के कमरे में घुस जाता, जाकर पीछे से उनकी आँखें बंद कर लेता और वह मुझे गोद में उठाकर मेरा गाल चूम लेते। वह चाहे जितने काम में संलग्न हों, लेकिन मुझे देखकर, काम उठाकर रख

देते, और मुझसे बातें करने लगते। वे क्या बातें थीं, यह तो मुझे याद नहीं; परंतु इतना ज़रूर याद है कि वह फिर कुछ काम न करते थे। माता का अभाव भी उन्होंने पूरा कर दिया था। यतीम-ख़ाने के जितने भी नौकर थे, उन्हें मालूम था कि मैं पादरी साहब का धर्म-पुत्र हूँ, इसलिये मेरी देख-रेख दूसरे बालकों की अपेक्षा अधिक थी।

ईसा ईश्वर का पुत्र है, यह ज्ञान पहले-पहल पादरी साहब ने ही कराया था। सूली पर चढ़ी हुई उस शांत मूर्ति का दर्शन कराके पादरी साहब ने कहा था—"सैमुएल, तुम जिसे अपने सामने देख रहे हो, वह ईश्वर का पुत्र है। उसे नमस्कार करो, और याद रक्खो, यही तुमको स्वर्ग के राज्य में ले जायगा। सोते वक़्त ईश्वर से प्रार्थना किया करो कि वह तुम्हारे पापों को क्षमा करे, और अपने राज्य में ले जाय।" उस वक़्त मैं इसका कोई मतलब नहीं समझा था; परंतु उस छोटी प्रार्थना को करके सोता था। तब से यह मेरे जीवन का अंग बन गई है, और मैं अभी तक उन्हीं शब्दों को दोहराया करता हूँ। उसी प्रार्थना के साथ पादरी साहब से इतना घनिष्ठ संबंध है कि मैं कभी जीवन रहते शायद ही उसे दूर कर सकूँ। पादरी साहब—नहीं, मेरे धर्म-पिता—का यही अंतिम आदेश था कि तुम पर जब कभी मुसीबत आवे, तो अपने त्राण-कर्ता ईसा को याद करना, वह तुम्हारे सब कष्ट दूर करेगा।

पादरी साहब का जीवन बहुत ही सादा था। ऊँचा-लंबा क़द, गौर-शुभ्र वर्ण, सुंदर-शांत नेत्र, जो स्वयं आश्वासन देते थे, और उनकी लंबी दाढ़ी-मूछों से भरा हुआ मुख दूसरों के दिल पर अपने आप विश्वास और श्रद्धा उत्पन्न करते थे। दया, ममता और क्षमा के वह अवतार थे। उनके स्वर में कोमलता, स्निग्धता और ममता थी। उनकी आँखें दूसरे के लिये आँसुओं का संचित

कोष थीं, जो सदैव अजस्र गति से बहा करती थीं। मुझे अच्छी तरह याद है, जब मैंने एक दिन उनसे पूछा था कि वास्तव में मेरा पिता कौन था, तो उन्होंने मेरा प्रश्न सुनकर थोड़ी देर तक मेरी ओर देखा, और फिर मुझे हृदय से लगा लिया। न-मालूम क्यों उनके गरम-गरम आँसू मेरे सिर पर गिरने लगे। मैं अवाक् होकर सोचने लगा कि शायद मैंने बड़ा भारी अपराध किया है। मैंने अनुताप-पूर्ण स्वर में कहा—"पिता, मुझे क्षमा करो, मैं फिर कभी ऐसा अपराध न करूँगा।" मेरी बात सुनकर वह और भी रोने लगे, और कहा—"तुम अपने पिता को पूछते हो बेटा, तुम्हारा पिता ईसामसीह है।" यह जवाब देकर उन्होंने बड़े आवेग से मुझे अपने हृदय से लगा लिया। यह मैं जानता हूँ कि उस दिन उन्हें सारी रात नींद नहीं आई, और बार-बार उठकर वह किसी के लिये प्रार्थना करते रहे। उस दिन के बाद कभी मुझे साहस न हुआ कि मैं अपने पिता के बारे में कोई प्रश्न करूँ; लेकिन इतना ज़रूर हुआ कि मैं उस दिन से उन्हीं के कमरे में सोने लगा।

उस यतीमख़ाने में कुल २९ बालक थे, जिनमें से ३ तो थोड़ी ही अवस्था में परम पिता की गोद में चले गए थे। बाक़ी २६ एक परिवार के मालूम पड़ते थे। हर ५ लड़कों की देख-रेख के लिये एक मैट्रन नियुक्त थी, जिसके ज़िम्मे हमारी सारी आवश्यकताओं के पूर्ण करने का भार था। मेरी देख-रेख स्वयं पादरी साहब करते थे। इसलिये मुझे किसी मैट्रन की संरक्षता प्राप्त न थी। हमारा सारा काम-काज बँधे नियम से होता था, और हमारी शारीरिक उन्नति के प्रति सबका विशेष रूप से ध्यान था। नियमित रूप से व्यायाम करना अनिवार्य था, और उसकी देख-रेख स्वयं पादरी साहब करते थे। मुझे व्यायाम से तो प्रेम था ही, साथ ही मैं खिलाड़ी भी औवल दर्जे का था। मुझमें प्रकृति ने इतनी शक्ति दी

थी कि मैं अपने से दुगने को भी बात-की-बात में हरा देता था। पादरी साहब मेरी कुश्ती देखकर बहुत प्रसन्न होते थे।

लिखने-पढ़ने का पूरा प्रबंध था ; परंतु मेरा मन पढ़ने में विशेष न लगता था। मेरे साथ ही गैबरील जॉनसन नाम का एक दूसरा बालक था, जिसका चेहरा-मोहरा मेरे-जैसा ही था, लेकिन जो स्वभाव में बिलकुल विपरीत था। वह बहुत शांत था, किसी से कभी बात न करता था। गंभीर इतना कि हँसी की क्षीण रेखा भी किसी ने उसके मुख पर न देखी। सहनशील इतना कि किसी के भी विद्रूप का उसने कभी उत्तर न दिया। धैर्यवान् इतना कि कभी किसी ने उसे घबराते न देखा। कठोर इतना कि चाकू से अपनी उँगली काट डालने में उसने माथे पर एक बल भी न पड़ने दिया। वह अद्भुत बालक था, उससे सब शंकित रहते—न वह किसी से बोलता था, न कोई उससे। वह सदा अन्य मनस्क की भाँति न-मालूम कौन-सी गुत्थी को सुलझाने में व्यस्त रहता। फिर भी वह मेरा भाई था—सगा भाई।

यह भेद मुझे एक दिन अनायास ही मालूम हो गया। बहुत दिनों की बात है। जब मैं केवल सात वर्ष का था, एक दिन मैंने चुपके से जाकर गैबरील की आँखें बंद कर लीं। गैबरील ने अपने दोनो हाथों से मेरे हाथ पकड़कर दूर करना चाहा, लेकिन मैंने भी ज़ोर लगाकर उँगलियाँ उसकी आँखों में लगा दीं, जिससे एक उँगली उसकी आँख के भीतर चली गई, और उसके चोट लग गई। गैबरील ने घबराकर, मेरा हाथ झटककर अलग कर दिया, और धीरे से मेरा कान मल दिया। मैं रोता हुआ पादरी साहब के पास गया, और शिकायत की, साथ ही यह कहा कि मैं भी उसे मारूँगा। पादरी साहब ने मुझे गोद में उठाते हुए कहा—"सैमु-एल, ऐसा न कहो, जानते हो, यह तुम्हारा सगा भाई है। तुम्हें

उसकी इज़्ज़त करनी चाहिए। क्या तुमने नहीं देखा कि तुम दोनो के हाथ में अर्ध चंद्र है, और उसके नीचे अरबी में कुछ गुदा है, जो इस बात का प्रमाण है कि तुम दोनो के माता-पिता एक हैं।" मैं यह सुनकर स्तंभित रह गया, और इसके बाद मैंने कभी गैबरील को कुछ नहीं कहा, तथा हमेशा उसकी इज़्ज़त करता आया हूँ।

यह बात नहीं कि गैबरील मुझे चाहता न हो। जब कभी मैं बीमार पड़ता, तो वह घंटों मेरे पास बैठा रहता, और मेरी शुश्रूषा करता; लेकिन बात फिर भी कम करता था। उसकी चेष्टा दूसरे लड़कों से भिन्न तो थी ही; परंतु पढ़ने-लिखने की ओर उसकी अभिरुचि अधिक थी। पुस्तकों से उसे विशेष प्रेम था, और पादरी साहब उसे उत्साहित भी करते थे। प्रत्येक विषय की पुस्तक मँगवा-कर उसे दिया करते थे। कभी-कभी मुझको लक्ष्य कर कहते—"देखो, सैमुएल, तुम्हारा भाई पढ़ने-लिखने में कितना मन लगाता है, और तुम केवल खेल ही में अपना वक़्त ख़राब करते हो।" मैं भी पढ़ने-लिखने में मनोयोग देता; परंतु वह मेरे लिये अधिक रुचिकर न था। अंत में हुआ भी वही। मैं पढ़-लिखकर विद्वान् न हुआ। अपनी लड़ाकू प्रकृति के कारण अंत में मैं सेना में भरती हुआ, और सैनिक हो गया।

गैबरील इँगलैंड जाकर ऑक्सफ़ोर्ड कॉलेज में भरती हुआ, और बाद में बैरिस्टर होकर भारत वापस आया। यहाँ थोड़े ही दिन प्रैक्टिस की, और फिर पेशावर में डिस्ट्रिक जज के पद पर आसीन हुआ।

सन् १६२........के मई महीने की १६ तारीख़ को हमारे धर्म-पिता लैटीमर साहब ने हम दोनो को सुखी देखकर पर लोक-यात्रा की। कितनी शांति से उनका प्राणांत हुआ था, वह दृश्य अभी तक मुझे याद है। उनकी मृत्यु के समय हम दोनो भाई मौजूद थे, और

उनके दोनो हाथ हमारे सिर पर थे। वह हमें अस्फुट स्वर में आशीर्वाद देते-देते ईश्वर के स्वर्गीय राज्य में प्रस्थान कर गए, और हमारे लिये छोड़ गए एक मीठी स्नेह-भरी स्मृति।

(२)

सन् १९३१ के फ़रवरी महीने की २८वीं तारीख़ को सरहद की जंगली जातियों ने सिर उठाया, और उन्होंने हमारी छावनी पर छापा मारा। उस छापे में हमारे बहुत-से जवान काम आए। जिस वक़्त मैंने यह समाचार सुना, मेरा ख़ून उबलने लगा, और जोश से मेरी भुजाएँ फड़कने लगीं। रह-रहकर यही भावना मन में उठने लगी कि कब रण-भूमि में अपने भाइयों के ख़ून का बदला चुकाऊँ। गैबरील पेशावर में था। मैंने उसी दिन उसको तार दिया, जिसमें लिखा कि मैंने कमांडर से पूछा है—आज्ञा मिलते ही फ़्रंटपर चला जाऊँगा, इसलिये अंतिम बिदा माँगता हूँ।" उत्तर में गैबरील ने अपनी शुभेच्छा का संदेश भेजा।

उसी दिन शाम को मैं कमांडर साहब के बँगले पर गया, और लड़ाई पर जाने की अनुमति माँगी। कमांडर साहब ने मुस्किराते हुए कहा—"कैप्टन, तुम इतने उतावले क्यों हो? मेरी इच्छा है, तुम यहीं रहकर छावनी का प्रबंध करो। ये अफ़रीदी रात को ही छापा मारा करते हैं, और सामने आकर बहुत कम लोहा लेते हैं।"

मैंने देखा, कमांडर की इच्छा मुझे फ़्रंट पर भेजने की नहीं है। मुझे क्रोध आया, और कुछ खिन्न भी हुआ। कमांडर ने मेरे मन का भाव ताड़ लिया। उसने स्नेह से मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा—"मैं जानता हूँ, तुम गैबरील के सगे भाई हो, और गैबरील मेरा अभिन्न हृदय बंधु है, फिर मैं कैसे जान-बूझकर तुम्हें गड्ढे में उतार दूँ? अफ़रीदी गोरिल्लों की भाँति लड़ने में सिद्धहस्त हैं। वे अदृश्य खोहों के भीतर बैठे-बैठे हमारे ऊपर गोलियाँ चलाकर

शिकार करते हैं, इसलिये उनसे लड़ना मुश्किल पड़ता है। गवर्न-मेंट की यह इच्छा है कि इन पर हवाई हमले किए जायँ, और इनके पथरीले देश को, जिसकी पनाह में लड़ते हैं, बमों से हमेशा के लिये नष्ट कर दिया जाय। केवल दिखावे के लिये थोड़ी-सी गोरखा और पंजाबी फ़ौज मोर्चाबंदी के लिये भेज दी जाय। इस-लिये मैं नहीं समझता कि मेरे प्यारे कैप्टन, तुम्हारी लड़ने की इच्छा पूर्ण हो सकेगी।"

मैंने गुलदस्ते का एक फूल तोड़ते हुए कहा—"अगर गोरखा और पंजाबी फ़ौज को मोर्चाबंदी के लिये भेजना गवर्नमेंट ने निश्चय किया है, तो पंजाबियों के बजाय 'शेफ़ील्ड इनफ़ैंट्री' की एक टुकड़ी मेरी कमान में क्यों न भेज दी जाय? मेरा जाना बहुत ज़रूरी है। देखिए, गैबरोल को मैंने तार दिया था, उसकी शुभ कामना का जवाब भी आ गया है। अगर अब मैं नहीं जाने पाऊँगा, तो दुनिया मुझे कायर समझेगी। आप मेरे लिये चिंतित न हों, शत्रु मेरा किंचित् भी अनिष्ट न कर सकेंगे। आप गवर्नमेंट को सूचित कर दें कि 'शेफ़ील्ड इनफ़ैंट्री' बजाय पंजाबियों के भेजी जायगी।"

मैं बहुत ही विनीत दृष्टि से कमांडर की ओर देखने लगा।

कमांडर ने मेरी ओर मुस्किराती हुई दृष्टि से देखकर कहा—"कैप्टन, तुम्हारी यह भावना देखकर मुझे हर्ष और गर्व होता है। तुम्हारे-जैसे युवकों के भरोसे ही आज इँगलैंड आधी दुनिया पर शासन कर रहा है। मैं तुम्हारे जोश को ठंडा करना नहीं चाहता। ठीक है, पंजाबी बैटालियन के बजाय मैं तुम्हारी फ़ौज को भेजूँगा। जाओ, अपनी फ़ौज को तैयार होने का हुक्म सुना दो। कल प्रातः-काल ५ बजे तुमको लालदरोश के लिये कूच करना पड़ेगा।"

इसके बाद मुझे याद नहीं कि मैंने किन शब्दों में कमांडर को

धन्यवाद दिया, लेकिन इतना ज़रूर याद है कि मैं वायु-वेग से उस सुसमाचार को सुनाने के लिये अपनी बैरक की ओर चल दिया। रास्ते में मैंने किसी को सलाम का जवाब दिया, और किसी को नहीं भी। मेरे सामने तो युद्ध-क्षेत्र था, और कुछ नहीं। मुझे बार-बार यह भ्रम हो रहा था कि कहीं कमांडर अपना विचार बदल न दे, इसलिये जल्दी-से-जल्दी मैं अपनी फ़ौज में जाना चाहता था।

मुझे देखकर मेरे जवानों ने मुझे घेर लिया, और कूच का समय पूछने लगे, क्योंकि उनको मेरे चेहरे से ज़ाहिर हो गया था कि हमारी फ़ौज को फ़्रंट पर जाने का हुक्म हो गया है।

मैंने उनको वह शुभ घड़ी बता दी। मेरे जवानों की बाछें खिल गईं। उनकी मर्दानगी अंग-अंग से फूटकर निकलने लगी, और ख़ून जोश भरने लगा। मैंने तुरंत ही गैबरील को दूसरा तार भेज दिया, जिसमें मेरे जाने की सूचना थी।

नीरव निस्तब्धता छाई थी। रात्रि की निविड़ कालिमा ने संसार को आच्छादित कर रक्खा था। तारों का प्रकाश संसार को देखकर हँस रहा था, विद्रूप कर रहा था। भयानक सन्नाटे को चीरती हुई बिगुल की आवाज़ हमारी बैरक में गूँज गई। वही हमारे प्रस्थान की सूचना थी। मैं एक घंटे पहले से ही कपड़ों और हथों से लैस होकर कमरे के बाहर आ गया था। मेरे जवान भी आकर सामने मैदान में इकट्ठे हो गए। क़वायद शुरू हुई, और परेड के बाद फ़ौज़ी बाजा बजने लगा। हमारे सैनिक गगन-प्रकंपित शब्द करते हुए गाने लगे—

Rule Britainia, Rule the wares.
Britons shall never be slaves.

मैं भी योग देने लगा। हमारे शरीर में विद्युत् से भी उद्दाम

शक्ति भर गई। जातीयता के गौरव से हमारा हृदय ओत-प्रोत हो गया। हमारे सामने संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी हेय थी, फिर तुच्छ कीड़ों की तरह अफ़रीदी जाति की क्या हस्ती?

प्रात:काल जब हमारे जातीय गान की स्वर-लहरी गगन में झूम-झूम-कर विलीन हो रही थी, उसी समय कमांडर साहब आ गए। जवानों ने उनको फ़ौजी सलाम किया, और बाजा बंद हुआ। कमांडर ने मेरे पास आकर शेकहैंड करते हुए कहा—"क्यों कैप्टन, क्या तुम कूच के लिये तैयार हो?"

मैंने अपनी प्रसन्नता को छिपाते हुए कहा—"हाँ, बिलकुल, केवल आपके हुक्म का इंतज़ार है। देखिए, हमारे जवान किस तरह जोश से सराबोर हैं। वे इस समय अफ़रीदी तो क्या, शैतान की फ़ौज को भी हरा देने की सामर्थ्य रखते हैं।" कहते-कहते मेरी छाती फूलकर दूनी हो गई।

कमांडर ने मेरे निकट आकर बहुत धीमे स्वर में कहा—"कैप्टन, अगर मैं यह कहूँ कि गवर्नमेंट ने मेरी प्रार्थना नहीं, तुम्हारी प्रार्थना अस्वीकार की, और पंजाबी बटालियन को ही भेजना निश्चय किया, तो तुम क्या करोगे?"

कमांडर के शब्दों ने वह काम किया, जो शून्य से गिरकर वज्र करता है। मैं स्तंभित होकर शून्य दृष्टि और भयाकुल मुख से कमां-डर की ओर देखने लगा।

कमांडर ने मेरे मुख का परिवर्तन भली भाँति देख लिया। वह ज़ोर-ज़ोर से अपने सिगार से धुआँ निकालने लगा। मैं अवाक् होकर उसकी ओर देख रहा था।

मैंने अस्फुट स्वर में कहा—"नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। आप हँसी करते हैं।" कमांडर ने मेरा हाथ अपने हाथों से प्रेम-पूर्वक दबाकर कहा—"मेरे प्यारे कैप्टन, वास्तव में ऐसा ही है।

गवर्नमेंट का ऐसा ही विचार है। 'शेफ़ील्ड इनफ़ैंट्री' के लिये यही हुक्म आया है कि यह यहाँ रहकर रक्षा करे।"

शोक-समाचार का पहला ही धक्का ज़ोरदार होता है। फिर एक बार सह लेने पर उसकी कटुता कम हो जाती है। मैंने धीमे, किंतु साफ़ स्वर में कहा—"कमांडर साहब, यह आपका अन्याय है। आप नहीं जानते कि आप क्या कह रहे हैं। लड़ाई पर जाना अब किस तरह रुक सकता है, जब हमें सिर्फ़ मार्च करने की ही देर है।"

कमांडर साहब ने सिगार का धुआँ निकालते हुए कहा—"गवर्नमेंट का हुक्म है, उसे तो मानना ही पड़ेगा, लेकिन घबराओ नहीं, अब भी उम्मीद है।"

उम्मीद अभी है। डूबते को तिनके का सहारा ही बहुत है। "क्या सचमुच अभी कोई उम्मीद है ?" मैंने आकुल कंठ से पूछा।

कमांडर साहब—"हाँ, उम्मीद कर सकते हो; लेकिन मैं कोई आशा नहीं बँधाता। अगर जवाब आता है, तो ५ बजे के पहले आ जायगा।" फिर घड़ी की ओर देखकर कहा—"पाँच बजने में अभी दस मिनट बाक़ी हैं, मैंने १ बजे तार का जवाब दिया था, और शेफ़ील्ड इनफ़ैंट्री के जाने की दुबारा अनुमति माँगी थी। उसमें तुम्हारी बहादुरी और तुम्हारे उत्साह का भी ज़िक्र किया था। उम्मीद है, जवाब आ गया होगा। मेरा बेयरा लेकर आता होगा।"

उस प्रातःकाल की श्यामल सफ़ेदी को मैं कभी न भूलूँगा, और न उस शुभ घड़ी को, जब मैंने निविड़ अंधकार को फाड़कर कमांडर साहब के 'बेयरा' को साइकिल पर आते देखा। मेरा हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। रक्त का वेग मुख की ओर हो गया। दोनो कान गर्म हो गए। हृदय का स्पंदन बाहर सुनाई देने लगा।

मैं अपने को रोक न सका, और दौड़कर बेयरे के हाथ से तार छीन लिया। मुझे प्रकाश की ज़रूरत न पड़ी। उस श्यामल प्रकाश में ही मैंने पढ़ लिया—"तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, और 'शेफ़ील्ड इनफ़ैंट्री' के जाने की अनुमति मिल गई है।"

मैं कह नहीं सकता कि कब मैं ख़ुशी के कारण सब शिष्टाचार भूलकर अपने कमांडर से लिपट गया।

(२)

सामने युद्ध का मैदान था। गड़म-गड़म शब्द से दिशाएँ गूँजतीं और धुएँ का एक छोटा-सा पुंज आकाश में किसी का जीवन लेकर कुंडली बनाता हुआ उड़ जाता। पिंजर-बद्ध प्राण-वायु उन्मुक्त वायु-मंडल में मिलकर नृत्य करने लगता। उस वक़्त मालूम होता कि मनुष्य का प्राण कितना क्षुद्र है? जिस प्राणी की रक्षा के लिये मनुष्य अपना सर्वस्व दे देता है, उसी प्राण को अवसर पड़ने पर मनुष्य अनायास ही गवाँ भी देता है। तब प्राण से भी कोई वस्तु मनुष्य को अधिक प्रिय है। वह क्या है? इसका उत्तर तो तत्त्व-ज्ञानी ही दे सकते हैं। मेरे-जैसे सिपाही नहीं।

स्वात नदी के किनारे हमारी छावनी पड़ी थी। यह न-मालूम कितने वर्षों से अविराम गति से इसी पथरीली भूमि को धोती हुई बह रही है। कौन कह सकता है, कितने जोशीले जवानों का ख़ून उसने अपने साथ बहाकर, काबुल नदी में ले जाकर मिला दिया है। और, कौन ज्योतिषी यही कह सकता है कि आज वह कितने जवानों की उमंगों का अंतिम उच्छ्वास लेकर बह जायगी।

स्वात नदी तक पहुँचने में हमें दस दिन लगे। मालाकंद हमने १ मार्च को छोड़ा था, और उस दिन हम निर्विघ्न चले गए। शत्रुओं से हमारी मुठभेड़ नहीं हुई, हालाँकि हमें पद-पद पर भय था कि न-मालूम किस पहाड़ी से सीसे के छोटे-छोटे टुकड़े निकल-

कर हमारे जवानों के जीवन का अंत कर देंगे ? परंतु ऐसा मौक़ा नहीं आया। हम अविराम गति से चलकर पाँचवें दिन चकदरा पहुँचे। यहाँ के निवासियों ने हमसे कोई छेड़-छाड़ नहीं की, और अपनी अधीनता ही प्रकट की। अलीमुहम्मद हमारा सदा से मित्र रहा है। उस पर हमें अविश्वास करने का कभी मौक़ा नहीं आया। हमने भी उस पर विश्वास किया और रात-भर विश्राम किया।

इसके बाद का प्रांत दरअसल हमारा शत्रु था। यहाँ हम लोगों ने अपनी गति-विधि में परिवर्तन किया। गोरखा फ़ौज का दस्ता हमने दो भागों में विभक्त कर दिया—एक तो मियाँकलाई की ओर भेज दिया गया, और दूसरा पूर्व की ओर। हम लोग स्वात नदी के किनारे बढ़ते रहे।

भयानक पथरीला मैदान था। दिन को इतनी गरमी पड़ती थी कि एक क़दम चलना मुश्किल पड़ता था। पत्थर तपकर जलते हुए अंगारे हो रहे थे, और छाया का कहीं नामोनिशान भी न था। कहीं कोई वृक्ष दिखाई न पड़ता था। अजीब, भयावह, शून्य पथरीला देश था। हाँ, स्वात नदी का जल अवश्य ठंडा था, जिसे पान कर कुछ शांति मिलती थी।

उस शून्य प्रदेश के चारों ओर विकट निर्जनता छाई थी। ऐसा मालूम होता था, मानो यहाँ मायाकार ने अपनी सारी माया बटोर ली है। केवल हमारे वायुयान कभी-कभी उस निस्तब्धता को भंग करते हुए शत्रु-सेना की खोज में आते-जाते दिखाई पड़ते थे। वे ही इस प्राण-हीन भूमि को सजीव प्रमाणित करते थे।

दसवें दिन हम लालद्रोश पहुँचे। शत्रुओं का यही प्रथम व्यूह था। अफ़रीदी, अन्य सीमा-प्रांतिक जातियों की अपेक्षा, विशेष चालाक और बुद्धिमान् होते हैं। इनसे लड़ना हँसी-खेल नहीं। ये लोग रायफ़ल चलाने में बड़े दक्ष होते हैं। इनका निशाना अचूक

होता है। वे हमें खींचकर उस प्रदेश में ले आए थे, जो उनका निज का है। हम लोग उनकी यह चालाकी समझते थे, परंतु हमारे पास सिवा आगे बढ़ने के कोई दूसरा चारा न था। पीछे लौटना हँसी कराना था। दूसरे, मेरा उतावला मन भी किसी प्रकार यह स्वीकार न करता था कि हम पीछे लौट जायँ। जीवन की ममता न हमारे जवानों को थी और न मुझको। सारी आपदाओं को समझते हुए भी हमने अग्रसर होना उचित समझा।

आखिर वह दिन आ गया। लालद्वीश में हमें अफ़रीदियों की एक छोटी-सी टुकड़ी मिली। उसने हमें देखते ही पहली बाढ़ दाग दी। हम लोगों को मालूम भी न था कि गोलियाँ कहाँ से आ रही हैं। देखते-देखते हमारे पाँच जवान सदा के लिये पृथ्वी पर सो गए। हम लोगों की गति रुक गई। हम चौकन्ने होकर चारो ओर देखने लगे। इसी समय एक दूसरी बाढ़ दगी। इस बार भी हमारे एक दर्जन जवान गिर पड़े। मैंने अपनी सेना को पीछे लौटने का हुक्म दिया। सेना पीछे लौटने लगी। लेकिन अभी मुश्किल से पीछे हटी होगी कि पीछे से भी वार हुआ। हमारे आधे दर्जन जवान फिर मारे गए। अब मुझे मालूम हुआ कि हम चारो ओर से शत्रुओं से घिरे हुए हैं। मैंने उसी समय अपने सैनिकों को ज़मीन पर लेट जाने का आदेश दिया।

हमारे ज़मीन पर पड़ते ही शत्रुओं की सेना पहाड़ी कंदराओं से बाहर निकल आई, और चारो ओर से हम पर धावा बोल दिया। हम यही चाहते थे। हमारे सैनिकों ने एक बाढ़ दागी, और उनके भी आदमी गिरे। हम लोगों ने खड़े होकर दूसरी बाढ़ दागी। इस बार भी उनके अनेक आदमी काम आए। इसी समय हमारे दो वायुयान मड़राते हुए ऊपर आ गए। हमारे सैनिकों ने दो गोलियाँ ऊपर की ओर दागीं, जिनसे आकाश में लाल रोशनी फैल गई, और

वायुयानों को मालूम हो गया कि यह ब्रिटिश सेना है, और उसकी दाहनी तथा बाईं ओर शत्रुओं का केंद्र है।

हमारा इशारा पाकर वायुयान बम गिराने लगे। अभी थोड़ी देर पहले जो मैदान शून्य था—निस्तब्ध था, वह अब जागरित हो गया। गोले पर गोले गिरने लगे। वायरलेस से उन वायुयानों ने दूसरे वायुयानों को समाचार भेज दिया। देखते-ही-देखते तबाही और मौत का बाज़ार गर्म हो गया।

अब शत्रुओं को छिपकर रहना मुश्किल ही नहीं, असंभव हो गया। गोले गिरते थे, और चट्टानें फटती थीं। गुफाएँ और खोहें वैसी निरापद न रहीं, जैसी पहले थीं। इस तरह वे बिना बदला लिए ही मारे जा रहे थे। अब उनके लिये यही उपाय रह गया कि वे बाहर आकर हमारे ऊपर हमला करें, और अपनी क्षति हमसे वसूल करें।

चारो तरफ़ से शत्रुओं ने एकत्र होकर हमें घेर लिया। हम तो इसके लिये तैयार ही थे। बंदूक़ों की दो ही तीन बाढ़ों में हमने उनको काफ़ी क्षति पहुँचाई, परंतु वे रुके नहीं, और तलवारें सूतकर हम पर चढ़ दौड़े। हमारे जवानों ने भी किरचों से काम लेना शुरू कर दिया। बहुतों ने तलवारें भी निकाल लीं। घमासान गुत्थमगुत्था होने लगा। मैंने भी अपनी तलवार खींच ली, और अपने जवानों को ललकारता हुआ शत्रुओं के बीच पिल पड़ा। मैं नहीं कह सकता कि मुझमें कहाँ का बल आ गया था—कहाँ का जोश आ गया था। जिधर जाता, उधर सफ़ाया नज़र आता। मुझे विश्वास है, अफ़रीदियों को वैसी तलवार का मुक़ाबला कभी न पड़ा होगा। मेरे जवान भी चारो तरफ़ से मार-काट मचाए थे; लेकिन मुझे कोई न पहुँचता था।

देखते-देखते मैदान लाशों से पट गया। लालद्रोश सचमुच लाल हो गया। ख़ून पनालों की तरह बह-बहकर स्वात-नदी में जा रहा

था। उधर बाबुयान, जो अब दस हो गए थे, पहाड़ों को बम के गोलों से पाट रहे थे। अफ़रीदी-ख़ूँख़्वार वहशी अपनी जान पर खेल कर लड़ रहे थे। उन सबों में एक गर्वीला जवान बड़ी बहादुरी से लड़ रहा था। वह मेरे-जैसे ऊँचे क़द का था। उसका शरीर भी मेरे-जैसा ही बना था। उसकी तलवार की लहर हमारे कितने ही जवानों को गहरी नींद में सुला चुकी थी। वह मेरी ओर बढ़ रहा था। मैं भी उससे लोहा लेने को उतावला था। अपने बराबर के जवान से कौन नहीं लड़ना चाहता? बराबर-वालों से लड़ना ही बहादुरी है।

गर्वीला युवक मेरे सामने आया। उसकी रेख अभी निकली ही थी। दाढ़ी के रोएँ कहीं-कहीं बड़े और घुँघराले होकर उसके गालों से लिपट रहे थे। मुँह और सारे बदन पर लहू के दाग़ दिखाई पड़ते थे—एक तरह से वह ख़ून से सराबोर नज़र आता था। मैं उसकी ओर हैरानी से देख रहा था। मैंने उसे देखकर पश्तो में कहा—"क्या तू मुझसे लड़कर अपने बूढ़े बाप की लकड़ी खोना चाहता है? मुझे तुझ पर रहम आता है। तू भाग जा, और अपने घर का चिराग़ मत ठंडा कर।"

उसे मेरी बात पर बड़ा क्रोध आया। उसने मेरी बात का जवाब तलवार से दिया। मैंने बड़ी शीघ्रता से हटकर उसका वार ख़ाली किया। मुझे भी क्रोध आया। मैंने तलवार से उस पर हमला किया। बहादुर जवान सँभल गया। उसने उलटकर इतनी फुर्ती से वार किया कि मैं सँभल न सका, और उसका भरपूर हाथ मेरे कंधे पर पड़ा, जिसने मेरे दाहने बाज़ू को काट दिया। तलवार मेरे हाथ से गिर पड़ी। आँखों के सामने अँधेरा छा गया, और मैं ज़मीन पर गिर पड़ा। गिरते-गिरते मुझे उसकी विजय-ध्वनि सुनाई दी। इसके बाद बिलकुल अंधकार था।

(४)

जब मुझे अच्छी तरह होश आया, मैं आलाकंद के अस्पताल में था। सर्जन मेरे घाव पर पट्टी बाँध चुका था, और कमांडर तथा गैबरील मुझे चिंतित नेत्रों से देख रहे थे। मुझे न तो कुछ स्पष्ट देख पड़ता था, और न सुन पड़ता था। दिन का प्रकाश भी एक धूमिल वर्ण धारण किए हुए था। शब्द मेरे कानों में झंकरित होते तो थे, मगर उनका क्या अर्थ था, यह नहीं ज्ञात होता था। धीरे-धीरे चेतना सजग होने लगी। एक-एक करके विस्मृत बातें याद आने लगीं। मुझे याद आया, मैं तो लालद्रोश के मैदान में उस अफ़रीदी नौजवान से लड़ रहा था, फिर कमांडर साहब और गैब-रील कहाँ से आए। मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि मैं शायद उस नौ-जवान के हाथों मारा जाकर ैत हो गया हूँ, और उसी अवस्था में अपने स्वजन और मित्रों को देख रहा हूँ। भयभीत होकर मैंने फिर आँखें बंद कर लीं।

चेतना और सजग हुई। शब्द की झंकार और परिष्कृत हुई। उनका अर्थ समझ में आने लगा। मैंने गैबरील को चिंतित कंठ से कहते सुना—"क्यों डॉक्टर, सैमुएल के बचने की क्या आशा नहीं है ? मैं आपका उत्तर साफ़ शब्दों में सुनना चाहता हूँ।"

गैबरील के स्वर में ममता-भरी कठोरता थी, विचारक का निर्णय था। डॉक्टर ने जवाब दिया—"अभी मैं स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कह सकता। ऐसी नाज़ुक हालत के संबंध में कोई भी विचारवान् और ज़िम्मेवार आदमी दो शब्दों में निर्णय नहीं दे सकता जनाब, यह कोई मुक़दमा नहीं, जिसका निर्णय शहादत से होता है; यह जीवन-मरण का प्रश्न है। अगर दवा कारगर हो गई, तो बच भी सकते हैं, और यदि दवा ने कोई असर न दिखलाया, तो नहीं भी बच सकते। हाँ, अभी तक आसार ख़राब नहीं मालूम देते।"

मेरी समझ में आ गया कि यह मेरे ही बारे में बातचीत है। तब मैं मरा नहीं, मरकर प्रेत नहीं हुआ। मैं घायल होकर मरणा-सन्न अवस्था में पड़ा हुआ हूँ। मैंने चाहा कि मैं गैबरील को जवाब दूँ कि मैं अब नहीं मरने का; परंतु मेरे कंठ से शब्द ही बाहर न निकला, ज़बान हिली भी नहीं, केवल सनसनाते हुए दिमाग़ में विचार की लहर उठी, और वहीं शांत हो गई।

मैंने धीरे-धीरे फिर आँखें खोल दीं। प्रकाश इस समय उज्ज्वल था। गैबरील का उज्ज्वल, चिंतित मुख मेरे सामने था। आँखें चार हुईं। जो बात मेरी ज़बान कहने में असमर्थ थी, वह आँखों ने गैबरील से कह दी। उसका मुख खिल पड़ा। उसने झुककर मुझसे पूछा—"सेमुएल, सेमुएल, कहो, अब तुम्हारी तबियत कैसी है?"

लेकिन निर्मम डॉक्टर ने गैबरील के कंधे पर धीरे से हाथ रख-कर आदेश-पूर्ण, किंतु विनीत स्वर में कहा—"मिस्टर जॉनसन, क्या आप इस समय कमरे के बाहर जाने की कृपा करेंगे। आपकी घबराहट सभी को ख़तरे में डाल सकती है।"

डॉक्टर का आदेश मुझे बुरा लगा। फिर गैबरील को क्यों न बुरा लगा होगा? मेरी इच्छा न थी कि गैबरील मेरे पास से जाय, क्योंकि आज मैंने उसे कई दिनों बाद देखा था। इस संसार में अपना कहनेवाला मेरा सिर्फ़ गैबरील ही था। प्रेम के साथ-साथ उस पर मेरी श्रद्धा और भक्ति भी थी। इस अवसर पर मैं गैबरील को नहीं छोड़ना चाहता था। विपत्ति के समय अपना आदमी मनुष्य को बहुत प्यारा हो जाता है, और उसी समय उसका मूल्य भी मालूम होता है। ज़हरीले नेत्रों से डॉक्टर की ओर देखकर सदा का शांत और गंभीर गैबरील भी उत्तेजित हो गया।

इसी समय कमांडर साहब ने कहा—"गैबरील, चलो, बाहर चलें। वास्तव में डॉक्टर का कहना सच है। हमारे यहाँ रहने से

सैमुएल उत्तेजित हो सकता है, और तुम भली भाँति समझ सकते हो कि उत्तेजित होने से उसका अनिष्ट हो सकता है। डॉक्टर के विरुद्ध अपील नहीं है। उसका हुक्म सबको सिर झुकाकर मानना पड़ता है।"

डॉक्टर मुस्किराने लगा। गैबरील चुपचाप कमांडर के साथ बाहर चला गया। मैं और डॉक्टर रह गए।

डॉक्टर ने शीशी से एक छोटे गिलास में दवा डालकर, मेरे होठों के पास लाकर कहा—"इसे पी जाओ।" यह कहते-कहते उसने दवा मेरे मुँह में डाल दी। मैं दवा पी गया।

मेरे दिमाग़ में विचारों का तूफ़ान उठ रहा था। लेकिन, क्षण-भर में ही वह शांत होने लगा, और फिर विस्मृति बैठने लगी। थोड़ी देर में मेरा ज्ञान जाता रहा। मेरी चेतना लुप्त हो गई।

जब दूसरे दिन होश आया, तब मेरे दिमाग़ में एक विचित्र गंध भरी थी। धीरे-धीरे मैंने नेत्र खोले। सामने डॉक्टर के हाथ में एक गिलास था, और उससे वह कुछ तरल पदार्थ मुझे पिला रहा था। वह गंध भी इसी गिलास से निकल रही थी। मैं उसे पीने लगा, और दस-बारह घूँटों में सब पी गया। उस दवा ने मेरे पेट में पहुँचकर एक तरह की जलन पैदा की; परंतु वह जलन धीरे-धीरे स्वतः शांत होने लगी, और तंतुओं में एक विचित्र प्रकार की स्फूर्ति दौड़ने लगी। अब मुझे मालूम हुआ कि उसमें किसी-न-किसी मात्रा में ब्रांडी थी। मेरे सारे अवयवों में स्फूर्ति दौड़ने लगी। मेरी ज़बान पर लगा हुआ ताला खुल गया।

मैंने धीमे स्वर में पूछा—"गैबरील कहाँ है ?"

डॉक्टर ने बहुत प्रेम-पूर्ण स्वर में कहा—"मिस्टर जॉनसन बाहर कमरे में हैं। तुम्हारे जगने का इंतज़ार कर रहे हैं। वह भी अभी

आ जायँगे। यह तो कहो, तुमको अच्छी नींद आई या नहीं? तुम्हें कुछ थकावट तो नहीं मालूम देती?"

मैंने धीमे स्वर में कहा—"नहीं, मैं इस समय बिलकुल स्वस्थ हूँ। बदन बहुत हलका मालूम होता है। बड़ी मेहरबानी होगी, अगर आप गेबरील को मेरे पास बुला दें। मैं उससे मिलने के लिये बहुत उत्सुक हूँ।"

डॉक्टर ने मेरे सिर पर प्रेम से हाथ फेरते हुए कहा—"अभी बुलाता हूँ। ज़रा एक ख़ुराक दवा और पिला दूँ, तब उन्हें बुलाऊँ। तुम आज पंद्रह दिनों से बेहोश पड़े रहे हो, इसलिये, कमज़ोरी ज़्यादा हो गई है, लेकिन अब तुम निरापद् हो। तुम्हारे शरीर से बहुत ख़ून निकल गया है, इससे थोड़ी-सी दवा तुमको और पीनी पड़ेगी। इस दवा से तुम्हारे शरीर में शक्ति आ जायगी और तुम बहुत देर तक मिस्टर जॉनसन से बातचीत कर सकोगे। लो, यह दवा पी जाओ।"

यह कहकर डॉक्टर ने दूसरा गिलास होठों से लगाया। मैं उसे जल्दी-जल्दी पी गया। पीते-ही-पीते एक सन्नाटे का शब्द मेरे शरीर में होने लगा। और, सचमुच मेरे शरीर में स्फूर्ति आने लगी।

डॉक्टर ने कहा—"क्यों कैप्टन, अब कैसे हो?" मेरे मुख पर क्षीण हास्य-रेखा दिखाई दी। मैंने कुछ परिष्कृत कंठ से कहा—"ठीक है। अब तो मुझमें काफ़ी शक्ति आ गई। मालूम होता है, मैं अब उठकर बैठ सकूँगा।"

डॉक्टर ने मेरा हाथ प्रेम से दबाते हुए कहा—"नहीं, मेरे प्यारे कैप्टन, तुम अभी उठने की कोशिश मत करना। उठने से तुम्हारे टाँके टूट जायँगे, और फिर सँभलना मुश्किल हो जायगा। यह समझ लो कि तुम्हारे शरीर से अगर एक ड्राम भी ख़ून और निकला, तो फिर सँभलना कठिन हो जायगा।"

मैंने कहा—"तो मुझको कब तक इसी तरह पड़े रहना पड़ेगा। मैं तो लड़ाई पर जाना चाहता हूँ। न-मालूम मेरी फ़ौज का क्या हुआ। मेरे जवान मेरे बिना व्याकुल होंगे।"

इसी समय गैबरील ने आकर डॉक्टर से पूछा—"क्यों डॉक्टर, अब सैमुएल कैसा है? उसे होश आया या नहीं?"

डॉक्टर ने मुस्किराते हुए कहा—"हाँ, अच्छी तरह। आप होश में आने को कहते हैं, हमारे कैप्टन तो लड़ाई में जाने के लिये आकुल हैं।"

डॉक्टर के स्वर में विजय-गर्व का किंचित् आभास था। अभावनीय सफलता गर्व की जननी है।

गैबरील ने मेरे पास आकर, प्रेम से मेरा हाथ पकड़कर कहा—"सैमुएल, अब तुम्हारी तबियत कैसी है? अब थकान तो नहीं मालूम पड़ती?"

बीच में ही डॉक्टर ने कहा—"थकान तो महीनों तक रहेगी। हाँ, इनके शरीर में आदमी का ताज़ा ख़ून पहुँचा दिया जाय, तो अलबत्ता बहुत जल्दी फ़ायदा हो सकता है।"

गैबरील ने तुरंत ही कहा—"तो डॉक्टर, मैं अपना रक्त देने को तैयार हूँ। जितना चाहो, मेरे शरीर से लेकर दे दो।"

मैंने बड़े प्रेम से गैबरील का हाथ अपने बाएँ हाथ से दबाते हुए कहा—"नहीं गैबरील, तुमको यह न करना होगा। मैं अपने आप स्वस्थ हो जाऊँगा। कमज़ोरी दूर होते बहुत दिन नहीं लगेंगे। तुम मेरे पास बैठ जाओ। मैं तुमसे बहुत कुछ पूछना चाहता हूँ।"

गैबरील मेरे पास कुरसी पर बैठ गया, और बोला—"क्या पूछते हो सैमुएल!" उसके स्वर में आत्मीयता थी, स्निग्ध स्नेह था, और था मार्मिक ममत्व। विपत्काल में ही आत्मीयता के प्रेम में मनोहरता

और वशीकरण का मोहन मंत्र होता है। मैंने पूछा—"पहले यह बताओ, मैं कहाँ और लालडोश से कितनी दूर हूँ?"

गैबरील ने जवाब दिया—"तुम मालाकंद के अस्पताल में हो। यह तो तुम्हारा परिचित है। क्या तुम पहचान नहीं सकते?"

गैबरील के प्रश्न में चिंता की एक रेखा थी, मैंने ध्यान-पूर्वक देखा। "हाँ, यह तो मेरा परिचित स्थान है, फिर भी मैंने नहीं पहचाना। यह डॉक्टर तो अभी नया आया हुआ सर्जन है। उस दिन भोज में मेरा परिचय हुआ था।" मैं अपनी बेवक़ूफ़ी पर हँस पड़ा। गैबरील की चिंता मेरी हँसी देखकर कम हो गई।

मैंने फिर पूछा—"हाँ, मैं अब पहचान गया। अब यह बताओ कि मेरी फ़ौज कहाँ है, और लड़ाई का क्या हाल है?"

गैबरील ने कहा—"तुम्हारी फ़ौज मालाकंद वापस आई है, और इस वक़्त लड़ाई कहीं नहीं है। शत्रुओं ने संधि कर ली है। बहुत-से अफ़रीदी क़ैद हो गए हैं, और उनका विचार फ़ौजी अदालत के सामने होनेवाला है। मैं भी सिविल से हटकर फ़ौजी विभाग में आ गया हूँ। गवर्नमेंट ने मुझे इन वहशी अफ़रीदियों के विचार के लिये नियुक्त किया है।"

फिर कुछ ठहरकर कहा—"यह कहते हुए मुझे बड़ा हर्ष और साथ ही गर्व होता है कि सपरिषद् वाइसराय ने यह प्रस्ताव पास किया है कि तुम्हें विक्टोरिया क्रास दिया जाय। कल सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट की अनुमति का तार भी आ गया है। तुमने जिस वीरता से युद्ध किया है, वह सीमा-प्रांत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। अफ़रीदियों की सारी शक्ति नष्ट हो गई है, और वे कई सदियों तक पनप न सकेंगे। मेरे ख़याल से १०,००० से ज़्यादा अफ़रीदी मारे गए, और सैकड़ों क़ैद कर लिए गए हैं। तुम्हारा

शत्रु, वह नौजवान अफ़रीदी भी पकड़ लिया गया है। वह इस समय क़ैदख़ाने में सड़ रहा है।"

मेरा हृदय आनंद से ओत-प्रोत हुआ जा रहा था। मुझे 'विक्टोरिया क्रास' मिलेगा। सैनिकों की महत्त्वाकांक्षा की सबसे उत्कृष्ट वस्तु मुझे मिलेगी, इससे अधिक मेरे लिये और क्या गौरव हो सकता है।

गैब्रील मेरे मुख का चढ़ाव-उतार बड़ी सतर्कता और ध्यान से देख रहा था। उसने फिर कहा—"तुम्हारा वह शत्रु, जिसके हाथ से तुम आहत हुए थे, गिरफ़्तार हो गया है। अब तुम उससे जैसा चाहो, बदला ले सकते हो।"

मैंने गंभीर होकर कहा—"गैब्रील, क्या तुम मेरी एक बात मानोगे ?"

गैब्रील ने मुस्किराते हुए कहा—"एक नहीं, दो। तुम जो भी कहो, मैं मानूँगा। क्या तुम यह नहीं जानते कि तुम मुझे कितने प्यारे हो ?" यह कहकर गैब्रील मेरे सूखे बालों पर हाथ फेरने लगा।

मैंने गैब्रील का हाथ दबाते हुए कहा—"उस अफ़रीदी युवक को छोड़ना पड़ेगा। मैं नहीं चाहता कि वह क़ैद में सड़े। वह वीर है। जानते हो, बहादुर और जवाँ मर्द की क़द्र हमेशा करनी चाहिए। वह चाहे विकट-से-विकट शत्रु ही क्यों न हो, बहादुर को बहादुरी से हराने में ही तो बहादुरी है, शूरता है, गौरव है। जहाँ तक हो, उसे गवर्नमेंट से माफ़ी मिलनी चाहिए। मैं शेर को पिंजरे में बंद नहीं देखना चाहता। उसे छोड़ दो, वह जंगल में जाकर दहाड़े, और फिर उसका शिकार करो, तभी तो बहादुरी है।"

गैब्रील और डॉक्टर मेरी ओर देखकर मुस्किराने लगे, और गैब्रील के मुख पर गर्व और आत्मतुष्टि की एक क्षीण आभा चमकने लगी।

(५)

मालाकंद के अस्पताल में पड़े हुए मुझको दो सप्ताह बीत गए। गैब्रील दो दिन रहकर अपने कार्य पर पेशावर चला गया। मैं भी दिन-पर-दिन स्वस्थ और सबल होने लगा। मेरे कंधे का घाव भर गया था, और हाथ भी कुछ-कुछ उठने लगा था। कमज़ोरी के लक्षण भी दूर होने लगे थे। मैं इधर-उधर चल-फिर भी लेता था।

संध्या का समय था। मैं अपने कमरे में बैठा आकाश-पाताल की सोच रहा था—'विक्टोरिया क्रास' मिलने का सुख-स्वप्न देख रहा था, क्योंकि उसी दिन सवेरे कमांडर साहब ने आकर मुझसे कहा था कि पूर्ण रूप से अच्छे हो जाने पर मुझे वायसराय से मिलने जाना पड़ेगा, जो अपने हाथ से मुझे 'विक्टोरिया क्रास' प्रदान करेंगे। मैं इसी संबंध में विचार कर रहा था कि एक नर्स ने आकर मुझे एक लिफ़ाफ़ा दिया। हस्ताक्षरों से मुझे मालूम हुआ कि वह गैब्रील का पत्र था। उत्सुक मन से मैं उसे खोलने लगा।

नर्स मेरे पास ही खड़ी थी, बोली—"यह पत्र क्या अभी आप पढ़ेंगे, या भोजन करने के बाद ?"

मैंने पत्र हाथ में निकालकर कहा—"नहीं, मैं इसे अभी पढ़ूँगा। पढ़ लेने के बाद खाऊँगा। तुम जा सकती हो; लेकिन मेहरबानी करके प्रकाश का प्रबंध कर दो।"

रात्रि की कालिमा धीरे-धीरे बढ़ रही थी। मन भी कुछ उद्विग्न हो उठा था। पत्र बड़े-बड़े तीन पृष्ठों में लिखा हुआ था, इसलिये कुछ चिंता भी हो रही थी। गैब्रील इतने लंबे पत्र लिखने का आदी न था, और शायद उसके जीवन का सबसे लंबा पत्र यही था।

अस्पताल का एक परिचारक लैंप जलाकर मेज़ पर रख गया।

अब मुझमें यह शक्ति न थी कि मैं अपनी इच्छा को दमन कर सकूँ। दीपक के प्रकाश में मैं पत्र पढ़ने लगा।

प्रिय सैमुएल,

यह तो तुमको मालूम ही है कि मैं लंबे पत्र लिखने का आदी नहीं हूँ। लेकिन तुम इसे मेरे सब पत्रों से लंबा पाओगे। इसका कारण तुम्हें आप ही विदित हो जायगा, जब तुम इसे समाप्त कर लोगे।

जब से मैं तुम्हारे पास से बिदा होकर आया हूँ, तबसे मुझे बहुत थोड़ा अवकाश मिलता है। क्योंकि मेरे पास बहुत काम है। सैकड़ों क़ैदियों के भाग्य का निपटारा करना था, हालाँकि यह सच है कि फ़ौजी अदालत में वे झंझट नहीं रहते, जो सिविल अदालतों में रहा करते हैं, तो भी काम ज़्यादा था।

परसों दोपहर की बात है। मैं अदालत में बैठा काम कर रहा था कि एकाएक मिस्टर आर्मराड ने आकर कहा—"ज़रा आपको कैंप जेल तक चलना पड़ेगा। एक बुड्ढा अफ़रीदी मरणासन्न अवस्था को पहुँच गया है। होश रहते-रहते उसका बयान क़लम-बंद हो जाय, तो ठीक है।"

मैं अदालत को बंद करके मिस्टर आर्मराड के साथ कैंप-जेल की ओर चल दिया।

यह तुम्हें मालूम ही है कि पेशावर में, आजकल एप्रिल के महीने में, दोपहर को कितनी गरमी पड़ती है। कैंप-जेल पहुँचते-पहुँचते मैं पसीने से शराबोर हो गया। उस वृद्ध अफ़रीदी की कोठरी में पहुँचते ही मैंने कोट उतार दिया, और कमीज़ की बाहें चढ़ाकर बाज़ुओं पर कर लीं।

वृद्ध अफ़रीदी की हुलिया जानने को शायद तुम उतने उत्कंठित न हो, जितना मैं तुमको बतलाने के लिये हूँ। वृद्ध लगभग ७० वर्ष

का होगा। उसके सिर और दाढ़ी के बाल तो सफ़ेद हैं ही, उसकी बरौनियाँ तक सफ़ेद हो गई हैं। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं—ठीक वैसी, जैसी तुम्हारी। उसकी नाक बड़ी और नुकीली है, जैसी मेरी। उसका माथा हम लोगों की तरह उन्नत और प्रशस्त है। उसका वर्ण श्वेत और चमड़ा कुछ झुलसा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि वह कठिन जाड़ा और गरमी सहन करने का पूर्ण अभ्यस्त है। उसके हाथ लंबे और इस वृद्धावस्था में भी मांस से भरे हुए हैं। उन पर एक भी झुर्री नहीं पड़ी है, जिससे यह अनुमान होता है कि उसमें तलवार चलाने की वैसी ही शक्ति है, जैसी किसी नौजवान में होती है। उसका वक्षःस्थल उन्नत और बलिष्ठ है, जो जवाँ-मर्दी की निशानी है। चेहरे-मोहरे से मालूम होता है कि वह किसी ऊँचे घराने का अधिकारी व्यक्ति है। दरअसल वह यूसुफ़ जई क़बीले का सरदार है। उसका नाम है, शेर बुलंदनूरख़ाँ। वास्तव में वह शेर है। उसने अपनी दहाड़ से सैकड़ों बार अँगरेज़ी सेना को चौंका दिया है।

मैं उस वृद्ध के समीप कुरसी खींचकर बैठ गया। वृद्ध मेरी ओर और मैं भी उसकी ओर देखने लगा। ज्यों-ज्यों वृद्ध मेरी ओर देखता था, त्यों-त्यों उसकी पेशानी पर बल पड़ते जाते थे। मानो वह कोई विस्मृत बात को याद करने की कोशिश कर रहा हो। जिस तरह कोई व्यक्ति अंधकार में टटोलता है, उसी तरह वह भी कुछ खोज रहा था, लेकिन उसकी आँखें मेरी ही ओर लगी थीं। उसकी ऐसी अवस्था देखकर मैं अनुमान करने लगा कि वह सन्नि-पात में है।

मैंने डॉक्टर से पूछा, तो उसने कहा—"वह इस समय पूरे होश-हवास में है, आप उसका बयान क़लम-बंद कर सकते हैं।"

मैंने अपनी कमीज़ की आस्तीनों को, जो फिर खिसककर नीचे

आ गई थीं, दुबारा चढ़ाकर बाज़ुओं पर खोंस दिया। मैं अपनी क़लम दावात में डुबो ही रहा था कि सहसा वृद्ध ने एक विस्मय का चीत्कार किया, और अपने दोनो हाथों से मेरा दाहना हाथ पकड़कर, उसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। मैं घबरा गया। दूसरे जो आदमी मेरे पास खड़े थे, उन्होंने घबराकर उस वृद्ध को पकड़ लिया, और चारपाई पर लिटा दिया। पर वृद्ध की आँखें बराबर मेरे हाथ पर गड़ी रहीं उस जगह पर, जहाँ अर्द्धचंद्र गुदा हुआ है, और अरबी के अक्षरों में कुछ लिखा है, जिसे तुम और मैं, दोनो बहुत बार पढ़ने और पढ़ाने की चेष्टा कर चुके हैं; लेकिन जिसका अर्थ न तो तुम्हीं जान सके, और न मैं ही। इस अर्द्धचंद्र के बारे में कुछ ज़्यादा कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तुम्हारे दाहने हाथ में मौजूद है, ठीक वैसा ही, और उसी जगह, जैसा मेरे है। यह भी तुमको शायद याद हो कि इन्हीं चिह्नों के आधार पर ही हमारे धर्म-पिता स्वर्गीय लैटीमर साहब कहा करते थे कि तुम दोनो सगे भाई हो।

जो लोग वृद्ध को पकड़े हुए थे; उनसे उसने पश्तो में कहा—"मुझे छोड़ दो, मैं किसी का बुरा नहीं करूँगा। ज़रा मुझे देख लेने दो कि यह मेरा शक तो नहीं है। यह हिलाल (अर्द्धचंद्र) क्या वही है, जो मेरे ख़ानदान का निशान है, या कोई दूसरा।"

मैं भी चकित होकर वृद्ध की ओर देखने लगा।

वृद्ध ने फिर मुझसे पूछा—"क्या मैं जान सकता हूँ कि यह हिलाल आपने गुदवाया है, या पैदाइशी है ?"

मैने अर्द्धचंद्र की ओर देखते हुए कहा—"तुम क्या समझते हो ?"

वृद्ध ने कुछ संदग्ध कंठ से कहा—"यह तो आपने नहीं गुदवाया, आपके बचपन से ही मालूम होता है। ज़रा मुझे और देखने दीजिए। अगर यह वही है, जिसे मैं ख़याल करता हूँ, तो इसके

नीचे हमारे पोशीदा हरूफ़ में कुछ लिखा होगा, जिसका हमारी जाति के सिवा दूसरा मतलब नहीं निकाल सकता।"

सैमुएल, तुम सोच सकते हो कि मेरी उत्कंठा किस तरह बढ़ रही होगी, क्योंकि मेरी समझ में आ रहा था कि इस अर्धचंद्र और अरबी लिखावट का भेद आज खुलनेवाला है। या दूसरे शब्दों में हमारा असली परिचय, हमारा वंश, जो सदा से अज्ञानता के अंधकार में छिपा रहा है, आज प्रकाश में आनेवाला है, क्योंकि यह बात मुझे सदैव खटकती रहती थी कि हो न हो, इस चिह्न में मेरा ही नहीं, बल्कि तुम्हारा भी असली परिचय निहित है।

मैंने अपना हाथ उस वृद्ध के पास ले जाकर कहा—"हाँ देखिए, अर्धचंद्र के नीचे अरबी अक्षरों में कुछ लिखा है, जिसका मतलब हम आज तक नहीं जान सके।"

वृद्ध उसको चकित दृष्टि से देखने लगा। उसकी आँखें नाचने लगीं, और वे आकर मेरे मुख पर ठहर गईं। वह धीरे-धीरे अपने आप कहने लगा—"ठीक है। या अल्लाह ? तू बड़ा कारसाज़ है। तूने मरते-मरते मुझे ग़फ़्फ़ार से मिला दिया, जिसे मैं कब का मरा हुआ समझ चुका था ? इसे देखकर अब्दुल्ला की भी याद आ ही जाती है। ग़फ़्फ़ार और अब्दुल्ला तो दोनो साथ-ही-साथ अलीमर्दान की लड़ाई में खो गए थे। जब ग़फ़्फ़ार को जीता-जागता अपने सामने देख रहा हूँ, तो ज़रूर अब्दुल्ला भी कहीं जीता होगा। या रब, क्या तू इतना मेहरबान होगा कि मुझे मरते समय अब्दुल्ला से मिला दे। मुझे सल्तनत खोने का ग़म नहीं, मरने का भी ग़म नहीं, मेरा ग़फ़्फ़ार मेरे सामने है। ग़फ़्फ़ार ? ग़फ़्फ़ार ? मेरा ग़फ़्फ़ार, मेरा खोया हुआ ग़फ़्फ़ार ?"

यह कहकर वह वृद्ध मेरे गले से लिपट गया।

सैमुएल, क्या तुम अब भी नहीं समझे कि वह अब्दुल्ला कौन

है ? अगर नहीं समझे, तो मैं तुम्हें बतला देना चाहता हूँ कि तुम्हीं उस वृद्ध के अब्दुल्ला हो, और मैं ही ग़फ़्फ़ार हूँ। हम दोनो सगे भाई हैं, और यूसुफ़ज़ाई पठानों के सरदार शेर बुलंदख़ाँ के बेटे हैं। हमारी मा, जो एक बहादुर औरत थी, हम दोनो को लेकर अँगरेज़ी फ़ौज के मुक़ाबले में हमारे बाप के साथ लड़ने आई थी। उस लड़ाई में हमारी हार हुई, और उसी भागा-भागी में हम-तुम दोनो छूट गए। पीछे अँगरेज़ों ने हमें यतीमख़ाने में पाल-पोसकर अपनी ही जाति का सिर काटने को तैयार किया। लैटीमर साहब को भी यह भेद नहीं मालूम था और यदि मालूम था, तो कभी उन्होंने ज़ाहिर नहीं किया।

मैं अपने पिता की बात सुनकर स्तंभित रह गया, किंतु वह भाव एक क्षण से अधिक नहीं रह सका। यतीमख़ाने के रजिस्टर में जो कुछ मैंने अपने बारे में लिखा देखा था, उसे वृद्ध की बातों से मिलान किया, तो मालूम हुआ कि वृद्ध का कथन सत्य है। दूसरे क्षण मैं भी उस वृद्ध के गले से लिपट गया। मिस्टर आर्मराड और डॉक्टर, दोनो मंत्र-मुग्ध खड़े थे। यह सारा व्यापार उनकी समझ में न आया।

मैंने अपने वृद्ध पिता को प्रेम से लिटा दिया, और उनके सिर पर हाथ फेरने लगा, परंतु वह लेटे न रहते थे, और बार-बार मेरे गले से लिपट जाते थे। सैमुएल, नहीं अब्दुल्ला, क्योंकि यही तुम्हारा असली नाम है। मैं अपने हृदय की उस अवस्था का क्या वर्णन करूँ।

मैंने धीरे से कहा—"मैं ग़फ़्फ़ार ज़िंदा हूँ, और मेरा छोटा भाई अब्दुल्ला भी जीवित है। यह सुनते ही वृद्ध पिता सजग होकर बैठ गए और विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखने लगे। उनको विश्वास न हुआ। मैंने अपने शब्दों को दुहराया।

उन्होंने मेरी ओर देखते हुए पूछा—"बेटा, वह कहाँ है ? या अल्लाह ! उसे भी मुझे एक बार देख लेने दे।"

मैंने कहा—"आप घबराइए नहीं। मैं उसे दो दिन में बुलवा दूँगा। वह सख़्त घायल होकर अस्पताल में पड़ा है। लालद्रोश की लड़ाई में एक नौजवान ने उसको गहरी चोट पहुँचाई है। वह मरते-मरते बचा है। यह तो आपको मालूम ही हो गया है कि हमें फ़िरंगियों ने पाल-पोसकर बड़ा किया और हम अपना वंश न जानते हुए अभी तक अपने को फ़िरंगी ही समझते और उनकी ओर से ही लड़ते थे। अब्दुल्ला फ़िरंगी फ़ौज में कप्तान है और मैं जज हूँ। लालद्रोश की लड़ाई में वह बुरी तरह एक नौजवान के हाथ से आहत हुआ है।"

हमारे वृद्ध पिता की सारी चिंता आँखों की खिड़कियों से झाँकने लगी। उन्होंने पूछा—"वह ख़ैरियत से तो है ?"

मैंने जवाब दिया—"हाँ, वह अब अच्छा हो रहा है, और दो दिन में ही यहाँ आ जायगा।"

हमारे पिता ने कहा—"देखो, अल्लाह की कुदरत, यह अच्छा हुआ, नहीं तो सगा भाई भाई को मार डालता। अल्लाह, तेरी शान।"

बिजली की तरह एक विचार अपने आप मेरे दिमाग़ में दौड़ गया। "तो क्या तुम्हें घायल करनेवाला हमारा ही सगा भाई है।"

मैंने पिता से पूछा—"यह आप क्या कहते हैं। अब्दुल्ला को घायल करनेवाला क्या हमारा ही छोटा भाई है ?"

उन्होंने अपनी बाहें मेरे गले में फिर डाल दीं, और कहा—"हाँ, ग़फ़्फ़ार, वह तुम्हारा सगा भाई आलम है। वही मेरे बुढ़ापे की लकड़ी है। तुम दोनों के खो जाने के तेरह वर्ष बाद वह पैदा हुआ था। वह भी मेरे साथ क़ैद हुआ है।"

यह कहते-कहते मेरे वृद्ध पिता मेरी गोद में बेहोश होकर गिर पड़े। अब्दुल्ला, तुमको लड़ाई के मैदान में ज़क देनेवाला हमारा ही छोटा भाई आलम है और अब मैं क्या लिखूँ, तुम्हारे आने पर सब हाल आप ही रोशन हो जायगा।

बड़ी आशा से हम तीनो तुम्हारी राह देख रहे हैं। जहाँ तक मुमकिन हो, जल्द आओ। पिता की हालत चिंता-जनक है।

तुम्हारा प्यारा भाई
ग़फ़्फ़ार उर्फ़ गैबरील

पत्र समाप्त करते ही मेरे मुख से निकल पड़ा—"यह क्या ?"